८८१
साहित्य

कथन

छायावादी काव्य आधुनिक हिंदी-साहित्य की महती उपलब्धि है। अपनी अभिव्यंजन-क्षमता, परिमार्जित भाषा, चित्ताकर्षक पद-विन्यास, रमणीय अर्थ-वैचित्र्य, मधुर कल्पना-वैभव, कान्तिमती बिम्बयोजना, स्वच्छंद-छंद-निर्माण आदि के द्वारा उसने खडीबोली-कविता को गौरवान्वित पद पर प्रतिष्ठित किया। उस पर दुरूहता, पलायन-वृत्ति, वायवी कल्पना-विलास, अतिशृंगारिकता, अनुभूतिशून्यता आदि के चाहे जितने आक्षेप किये जाएँ, किंतु यह मानना पड़ेगा कि उसका लालित्य-विधान आधुनिक साहित्य में बेजोड़ है। और, यह लालित्य-विधान ही काव्य का अन्यतम धर्म है।

अपनी-अपनी भावयित्री शक्ति के अनुसार विभिन्न विद्वानों ने छायावाद के स्वरूप-निरूपण, उसकी बाह्यान्तर विशेषताओं के उद्घाटन और उसके गुण-दोषों के विवेचन का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह आदि प्रतिष्ठित आलोचकों, एवं जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर', सुमित्रानंदन पंत आदि समादृत कवियों के तत्संबंधी विचार महत्त्वपूर्ण और मननीय हैं। 'छायावाद' उनके छायावाद-विषयक विचारों का निबंध-संग्रह है। विश्वास है कि इस संकलन से पाठकों को छायावाद के मर्म-ग्रहण में विशेष सहायता मिलेगी।

हम उन सभी विद्वान् लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के प्रकाशन की अनुमति देकर इस प्रयास को सफल बनाया है।

—संपादक

क्रम

छायावाद : परिवर्तन की कामना

रामचन्द्र शुक्ल

ीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिए पुकार सुनायी पडती है, र्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिए सब क्षेत्रो मे चरम साध्य बन जाता है। 'क्रान्ति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना न्दी-काव्य-क्षेत्र मे प्रलय की पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गयी। इस कामना ही-कही प्राचीन के स्थान पर नवीन के दर्शन की उत्कण्ठा भी प्रकट हुई। सब रिवर्तन की यह कामना कहाँ तक वर्तमान परिस्थितियो के स्वतन्त्र पर्यालोचन ाम है और कहाँ तक केवल अनुकूल है, नही कहा जा सकता। इतना अवश्य डता है कि इस परिवर्तनवाद के प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक हो जाने से जगत् न के नित्य स्वरूप की वह अनुभूति नये कवियो मे कम जग पाएगी, जिसकी ाव्य को दीर्घायु प्रदान करती है।

ह तो हुई काल के प्रभाव की बात। थोडा यह भी देखना चाहिए कि चली आती परम्परा की शैली से अतृप्ति या असन्तोष के कारण परिवर्तन की कामना कहाँ और उसकी अभिव्यक्ति किन-किन रूपो मे हुई। भक्तिकाल और रीतिकाल की ी हुई परम्परा के अन्त मे भारतेन्दु-मण्डल के प्रभाव से देशप्रेम और जातिगौरव ा को लेकर एक नूतन परम्परा की प्रतिष्ठा हुई। द्वितीय उत्थान[1] मे काव्य की परा का अनेकविषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदी जी के प्रभाव से एक ी भाषा की सफाई आयी, और दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्त- अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया। अत तृतीय उत्थान[2] मे जो परिवर्तन ीछे 'छायावाद' कहलाया वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नही। ा वस्तुभूमि का तो उसके भीतर बहुत सकोच हो गया। समन्वित विशाल भाव- लेकर चलने की ओर ध्यान न रहा।

द्वतीय उत्थान की कविता मे काव्य का स्वरूप खडा करने वाली दोनों बातों की यी पड़ती थी—कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का

[1] ९१० से सं० १९७५
[2] ९७५ से आगे

वर्ग में खूब खुलकर नहीं व्यंजित होती थी। इन बातों की कमी परम्परागत ब्रजभाषा-काव्य का आनन्द लेने वालों को भी मालूम होती थी और बँगला या अँगरेजी की कविता का परिचय रखने वालों को भी। अतः खड़ीबोली की कविता में पदलालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगवती व्यंजना, वेदना की विवृति, शब्द-प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने की आकांक्षा बढ़ती गयी।

सुधार चाहने वालों में कुछ लोग नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ीबोली की कविता को ब्रजभाषा-काव्य की-सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेजी की या अँगरेजी के ढंग पर चली हुई बँगला की कविताओं से प्रभावित थे वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्रविन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथसिंह के किये हुए बँगला-कविताओं के हिन्दी-अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में सवत् १६६७ से ही निकलने लगे थे। ग्रे, वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेजी-कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी (जैसे जीवनसिंह द्वारा अनूदित वर्ड्सवर्थ का 'कोकिल') निकले। अत: खड़ीबोली की कविता जिस रूप में चल रही थी, उससे सन्तुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान समाप्त होने से कुछ पहले ही कई कवि खड़ीबोली-काव्य को कल्पना का नया रूपरंग देने और उसे अधिक अन्तर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए, जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेजी ढर्रा लिये हुए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत-मुक्तक (लिरिक्स) बँगला में निकल रहे थे उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तुविन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नये ढंग की रचनाएँ सवत् १६७०-७१ में ही निकलने लगी थीं, जिनमें से कुछ के भीतर रहस्यभावना भी रहती है।

(१) मैथिलीशरण गुप्त—गुप्त जी की 'नक्षत्रनिपात' (सन् १६१४), अनुरोध, (सन् १६१५), पुष्पांजलि (१६१७), स्वयं आगत (१६१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयं आगत' की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

(क) मेरे आँगन का एक फूल।
सौभाग्य भाव से मिला हुआ,
श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ।
संसार-विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल झूल।

(ख) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किसमें होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ?

(२) मुकुटधर पाण्डेय—गुप्त जी तो, जैसा पहले कहा जा चुका है किसी विशेष पद्धति का अनुसरण न करके कई पद्धतियों पर चलते आ रहे हैं पर मुकुटधरजी बराबर नूतन पद्धति ही पर चले। उनकी इस ढंग की प्रारंभिक रचनाओं में 'आँसू', 'उद्गार' इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं। कुछ नमूने देखिए—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,

दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीड़ा स्थान। (१९१७)

(ख) मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा। (१९१०)

(३) पं० बदरीनाथ भट्ट—भट्टजी भी सन् १९१३ के पहले से ही भावव्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिए—

दे रहा दीपक जलकर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभापताका अंधकार हिय हूल।

(४) श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—बख्शीजी के भी इस ढंग के कुछ गीत सन् १९१५-१६ के आस-पास मिलेंगे।

ये कवि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नयी कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेम-दृष्टि डालकर, उसके रहस्यभरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छन्द मार्ग निकाल रहे थे। भक्तिक्षेत्र में उपास्य की एक-देशीय या धर्मविशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ़ रहे थे जिसमें सुन्दर रहस्यात्मक संकेत भी रहते थे। अतः हिन्दी-कविता की नयी धारा का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को—समझना चाहिए। इस दृष्टि से छायावाद का रूपरंग खड़ा करने वाले कवियों के सम्बन्ध में अँगरेजी या बँगला की समीक्षाओं से उठायी हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि 'इन कवियों के मन में एक आँधी उठ रही थी, जिसमें आन्दोलित होते हुए वे उड़े जा रहे थे; एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी, जिसमें सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी, रूढ़ियों के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए हाथ-पैर मार रही थी।' न कोई आँधी थी, न तूफान, न कोई नयी कसक थी, न वेदना, न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का हृदय पर कोई नया आघात था, न उसका आहत नाद। इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिनपर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यापक गीतों की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे-धीरे अपने स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।

गुप्तजी और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा यह स्वच्छन्द नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई, जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने ईसाई-सन्तों के छायाभास तथा योरपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण

ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। यह ... उधर एकबारगी ...
ये रास्ते का दरवाजा-सा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ नये कवि उधर एकबारगी झुक
ह अपना क्रमश: बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्र में प्रकट
कई कवियों का इसपर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर
ती और बँगला की पदावली का जगह-जगह ज्यों-का-त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें
की स्वतंत्र उद्‌भावना नहीं सूचित करतीं।

'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से कवि रहस्यात्मकता,
व्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तुविन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और
मयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना
ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव-
त्र या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत कुछ
कुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक
प्रकार के प्रेमोद्‌गारों तक ही काव्य की गतिविधि प्रायः बँध गयी। हृत्तन्त्री की झंकार,
नीरव संदेश, अभिसार, अनन्त प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, आँखमिचौली, मद में
झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कविता के
पुराने सामान भी इकट्ठे किये गये। कुछ हेरफेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का
ही प्रकाण्ड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं में मिलने लगा।

अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दों में
प्रेमव्यंजना भारतीय काव्यधारा में कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात 'हमारे यहाँ यह भी
था, वह भी था' की प्रवृत्तिवालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद्
से लेकर तंत्र और योगमार्ग तक की दौड़ लगाते हैं। उपनिषद् में आये हुए आत्मा के पूर्ण
आनन्दस्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानन्द की अपरिमेयता को समझाने के लिए स्त्री-पुरुष सम्बन्ध
वाले दृष्टान्त या उपमाएँ, योग के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीच के बड़े सन्तोष
के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बात
ऊपर कही गयी है उसका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि सन्त-मतानुगों की साधना
के क्षेत्र में रहस्य-मार्ग नहीं चले? योग रहस्य-मार्ग है, तंत्र रहस्य-मार्ग है, रसायन भी
रहस्य-मार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं, प्रकृत भावभूमि या काव्यभूमि के भीतर चले
हुए मार्ग नहीं। भारतीय परम्परा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर
तरह-तरह के रंगमहल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।

संहिताओं में तो अनेक प्रकार की बातों का संग्रह है। उपनिषदों में ब्रह्म और
जगत्, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में कई प्रकार के मत हैं। वे काव्यग्रन्थ नहीं हैं।
उनमें इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है, वह ऐतिहासिक, कर्मकाण्ड, दार्शनिक चिन्तन,
साम्प्रदायिक गुह्य साधना, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना इत्यादि बहुत-सी बातों में उलझा हुआ है।
विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायण का आदिकाव्य कहलाना
साफ यही सूचित करता है। संहिताओं और उपनिषदों को कभी किसी ने काव्य नहीं
कहा। अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ त

कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है, जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेमव्यंजना की हो। कबीरदास हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले थे। उसी भावात्मक रहस्य परम्परा का यह नूतन और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है। बहुत रमणीय है, कुछ लोगों को अत्यन्त रुचिकर है, यह और बात है।

प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी कामवासनाएँ, इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगी। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा।

छायावाद की इस धारा के आने के साथ-ही-साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर यूरोप के साहित्य-क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला-सम्बन्धी अनेक नये-पुराने सिद्धान्त सामने लाने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा 'कला का उद्देश्य कला ही है। इस जीवन के साथ काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्य के मूल्य का निर्धारण जीवन की किसी वस्तु के मूल्य के रूप में नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकार का रहस्यदर्शी या पैगम्बर है।' इसी प्रकार क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को लेकर बताया गया कि 'काव्य में वस्तु या वर्ण्यविषय कुछ नहीं, जो कुछ है वह अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन है।' इन दोनों वादों के अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौंदर्य की सृष्टि या योजना कहा गया, जिस प्रकार बेल-बूटे या नक्काशी का। कवि-कल्पना को प्रत्यक्ष जगत् से अलग एक स्वरनीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि को सौंदर्य-भावना के मद में झूमने वाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्य की प्रेरणा का सम्बन्ध स्वप्न और काम-वासना से बताने वाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। सारांश यह कि इस प्रकार के अनेक वाद-प्रवाद पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे।

छायावाद की कविता की पहली दौड़ तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं के रसीले और कोमल मार्ग पर हुई। पर उन कविताओं की बहुत कुछ गतिविधि अंगरेज़ी-काव्यरचनाओं के अनुवाद द्वारा सम्पादित देख, अंगरेज़ी-काव्यों से परिचित हिन्दी-कवि सीधे अंगरेज़ी से ही तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों-के-त्यों अनुवाद जगह-जगह अपनी रचनाओं में जड़ने लगे। 'कनक प्रभात', 'विचारों में बच्चों की साँस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुकाल', 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल कान्ति' ऐसे प्रयोग मकरन्दवार के दाने-बटों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। शिक्षार्थी को शैली कुछ अटपटी रही। उनमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना अनुमान नहीं पाया जाता, जितना पदों की ऊटपटाँग और टूटे वाक्य के बेतरतीब का। केवल भाषा के अर्थ-वैचित्र्य तक ही बात न रही। ऊपर जिन अनेक योरपीय वादों और प्रवादों का उल्लेख हुआ है उन सबका प्रभाव भी छायावाद कही जाने वाली कविताओं के स्वरूप पर कुछ-न-कुछ पड़ता रहा।

बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया, नाना अर्थभूमियों पर न जाने पाया, यह अवश्य कहा जाएगा।

छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पदविन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखायी पड़ी। भाषा के परिमार्जन-काल में खड़ीबोली की कविता के रूखे-सूखे रूप से ऊबकर कुछ कवि उसमें सरसता लाने के चिह्न दिखा रहे थे। अतः आध्यात्मिक रहस्यवाद का नूतन रूप हिन्दी में न आता तो भी शैली और अभिव्यंजना-पद्धति की उक्त विशेषताएँ क्रमशः स्फुरित होतीं और उनका स्वतंत्र विकास होता।

छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है, वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद (सिंबालिज्म) नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि नई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के और-और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखायी दे रहे हैं। इसी के साथ ही काव्य-शैली में प्रतिक्रिया के प्रदर्शन या नयेपन की नुमाइश का शौक भी घट रहा है। अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थगर्भित रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखायी पड़ती है।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद जी अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधुगान ही करते रहे, पर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की चित्रमयी शैली को विस्तृत अर्थभूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्तमान दुखद्वेषपूर्ण मानव-जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृंदावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया। इसी प्रकार श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'गुंजन' में सौंदर्यचयन से आगे बढ़ जीवन के नित्य स्वरूप पर भी दृष्टि डाली है; सुख-दुख दोनों के साथ अपने हृदय का सामंजस्य किया है और 'जीवन की गति में भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित्य-रूप में लेकर अपनी सुन्दर, चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन' और 'युगांत' में किया है। 'युगवाणी' में उनकी वाणी बहुत कुछ वर्तमान आन्दोलनों की प्रतिध्वनि के रूप में परिणत होती दिखायी देती है।

निरालाजी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम और मैं' में उस रहस्यमय 'नाद वेद आकार सार' का गान किया, 'जूही की कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय चेष्टाओं के पुष्प-चित्र खड़े किये उसी प्रकार 'जागरण वीणा' बजायी; इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति खड़ी की और इधर आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रमसीकर दिखाये। सारांश यह है कि शैली के वैलक्षण्य द्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शन का

मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि-खड़ीबोली-काव्य
मय, चित्रमय और अन्तर्भाव-व्यंजक रूपरंग देने में प्रवृत्त हुए, यह कहा
के कुछ रहस्य-भावापन्न प्रगीत-मुक्तक भी दिखाये जा चुके हैं। वे किस
ा प्रसार चाहते थे, प्रकृति की साधारण-असाधारण वस्तुओं से अपने
च्चा-मार्मिक अनुभव करते हुए चले थे, इसका भी निर्देश हो चुका है।
न्द नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ की
ाओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद'
' को ही एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े। 'चित्रभाषा' या अभिव्यंजन-
लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम
समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने 'छाया-
ा किया।

ना और अभिव्यंजनापद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य
ो सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने
अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार
चित्र भावानुभूतियों की कल्पना भी बहुत कुछ होने लगी। काव्य की
है कि वस्तुयोजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा
वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो
न्ध क्या रहेगा? भावानुभूति भी यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती
े? यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसका प्रबल
रे, अपने मर मिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन
ा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाष या गर्व की कहीं सत्ता
ा न होगी।

शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के
म्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात
ा बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना
ा के अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस
ा होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में
ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास
(फैन्टसमाटा) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त
'जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने
ब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र
ा हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।
ब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ

है। सन् १८८५ मे फ्रान्स में रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी
हलाया। वे अपनी रचनाओं मे प्रस्तुतों के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को
कर चलते थे। इसी से उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का व्यवहार
ने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वरप्रेम-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की
विताओं के लिए भी प्रतीक शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिन्दी मे 'छायावाद' शब्द
। जो व्यापक अर्थ में—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के
म्बन्ध मे भी—ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक-शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः
र्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का
थन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।

'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दीकाव्य-क्षेत्र मे चलने
ली श्री महादेवी वर्मा ही है। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीकपद्धति
। चित्रभाषाशैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाये।

रहस्यवाद के भीतर आने वाली रचनाएँ तो थोड़ी या बहुत सभी ने उक्त पद्धति
र की हैं, पर उनकी शब्दकला वासनात्मक प्रणयोद्गार, वेदना-विवृति, सौंदर्य-संघटन,
धुचर्या, अतृप्तिव्यंजना इत्यादि मे अधिकतर नियुक्त रही। जीवन के अवसाद, विषाद
ौर नैराश्य की झलक भी उनके मधुमय गानों मे मिलती रही। इसी परिमित क्षेत्र के
ीतर चित्रभाषा-शैली का वे वैलक्षण्य के साथ दर्शन करते रहे। वैलक्षण्य लाने के लिए
ंगरेजी की लाक्षणिक पदावलियों के अनुवाद भी ज्यों-के-त्यों रखे जाते रहे। जिनकी
र्वृत्ति लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर कम थी वे ब्रजभाषा के कवियों के ढंग पर श्रुतिरंजक
। नादानुवृत्त पदावली गुंफित करने मे अधिक तत्पर दिखायी दिये।

चित्रभाषा-शैली या प्रतीकपद्धति के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर
क्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना
रने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति-पद्धति का अवलम्बन भी छाया-
ाद का एक विशेष लक्षण हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन
द्विवेदीकाल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः इस
तिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा और अन्योक्ति के प्राचुर्य के रूप मे ही नहीं, कहीं-
हीं उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार के रूप मे भी हुआ। इनमे से उपादान और लक्षण-
लक्षणाओं को छोड़ और सब बातें किसी न किसी प्रकार की साम्य भावना के आधार
र ही खड़ी होनेवाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ बहुत पहले
ी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रच-
ाओं के भीतर साम्यग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है जिसके कारण उसे
क विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ।

हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है। सादृश्य (रूप या आकार
का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्दसाम्य (दो भिन्न वस्तुओं
का एक ही नाम होना)। इनमे से अन्तिम तो श्लेष की शब्दक्रीड़ा दिखाने वालों के ही
ाम का है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों मे प्रभावसाम्य छिपा

मिलेगा। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौंदर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं। काव्य में बँधे चले आते हुए उपमान अधिकतर इसी प्रकार के हैं। केवल रूप-रंग, आकार या व्यापार को ऊपर-ऊपर से देखकर या नाप-जोखकर, भावना पर उनका प्रभाव परखे बिना, वे नहीं रखे जाते थे। पीछे कविकर्म के बहुत कुछ श्रमसाध्य या अभ्याससाध्य होने के कारण जब कृत्रिमता आने लगी तब बहुत-से उपमान केवल बाहरी नाप-जोख के अनुसार भी रखे जाने लगे। कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहिनी और भिड़ सामने लायी जाने लगीं।

छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभावसाम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभावसाम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् होते हैं—जैसे, सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप, श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत, माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तिमान् या कांतिमान् के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, संध्या की छाया, पतझड़, मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भावतरंग के लिए झंकार; भावप्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि। आभ्यंतर प्रभावसाम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की असली विशेषता है।

हिन्दी-काव्य परम्परा मे अन्योक्ति-पद्धति का प्रचार तो रहा है, पर लाक्षणिकता का एक प्रकार से अभाव ही रहा। केवल कुछ रूढ़ लक्षणाएँ मुहावरों के रूप में कहीं-कहीं मिल जाती थी। ब्रजभाषा-कवियों मे लाक्षणिक साहस किसी ने दिखाया तो घनानन्द ने। इस तृतीय उत्थान मे सबसे अधिक लाक्षणिक साहस पंतजी ने अपने 'पल्लव' मे दिखाया। जैसे—

(१) धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
(धूल की ढेरी=असुंदर वस्तुएँ। मधुमय गान=गान के विषय अर्थात् सुन्दर वस्तुएँ।)

(२) मर्मपीड़ा के हास।
(हास=विकास, समृद्धि। विरोध-वैचित्र्य के लिए व्यंग्यव्यंजक-सम्बन्ध को लेकर लक्षणा।)
(मर्मपीड़ा के हास!=हे मेरे पीड़ित मन!—आधार-आधेय-सम्बन्ध लेकर।)

(३) चाँदनी का स्वभाव में वास। विचारों में बच्चों की साँस।
(चाँदनी=मृदुलता, शीतलता। बच्चों की साँस=भोलापन।)

(४) मृत्यु का यही दीर्घ निश्वास।
(मृत्यु=आसन्नमृत्यु व्यक्ति अथवा मृतक के लिए शोक करनेवाले व्यक्ति।)

(शिशु के लिए। अल्पार्थक के स्थान पर निषेधार्थक।)

'पल्लव' में प्रतिक्रिया के आवेश के कारण वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी, के लिए कहीं-कहीं अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोग भी ज्यों-के-त्यों ले लिये गये। पर पीछे वृत्ति घटती गयी।

'प्रसाद' की रचनाओं में शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति उतनी नहीं रही तनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उनके उपलक्षण (सिंबल्स) सामान्य अनुभूति में होते थे। जैसे—

(१) झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला।।
(झंझा-झकोर=क्षोभ, आकुलता। गर्जन=वेदना की तड़प। बिजली=चमक या टीस। नीरदमाला=अंधकार। 'शून्य' शब्द विशेषण के अतिरिक्त भाववाचक भी है, जिससे उक्ति में बहुत सुन्दर समन्वय आ जाता है।)

(२) पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में।।
(पतझड़=उदासी। किसलयदलकुसुम=वसंत=सरसता और प्रफुल्लता)।

(३) काँटों ने भी पहना मोती।
(कँटीले पौधों=पीड़ा पहुँचाने वाले कठोरहृदय मनुष्यों। पहना मोती=हिमबिन्दु धारण किया=अश्रुपूर्ण हुए।)

अप्रस्तुत किस प्रकार एकदेशीय, सूक्ष्म और धुँधले पर मर्मव्यंजक साम्य का ना-सा आधार लेकर खड़े किये जाते हैं, यह बात नीचे कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो गी—

(१) उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई सी, मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर।।
(लहर=सरस कोमल भाव। सूखा तट=शुष्क जीवन। अप्रस्तुत या उपमान भी लाक्षणिक हैं।)

(२) मृदु कल्पना सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय सी, बच्चों के तुतले भय सी।

(३) गिरिवर के उर से उठ उठ कर, उच्चाकांक्षाओं से तरुवर,
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर।
(उठे हुए पेड़ों का साम्य मनुष्य के हृदय की उन उच्च आकांक्षाओं में है, जो लोक के परे जाती हैं।)

(४) वनबाला के गीतों सा निर्जन में बिखरा है मधुमास।

पद्धति पर की जाती है। इस प्रकार साम्यभावना का ही प्राचुर्य हम सर्वत्र पाते हैं। यह साम्यभावना हमारे हृदय का प्रसार करनेवाली, शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़ सम्बन्ध की धारणा बँधानेवाली, अत्यन्त अपेक्षित मनोभूमि है, इसमें संदेह नहीं। पर यह सच्चा मार्मिक प्रभाव वहीं उत्पन्न करती है जहाँ यह प्राकृतिक वस्तु या व्यापार से प्राप्त सच्चे आभास के आधार पर खड़ी होती है। प्रकृति अपने अनन्त रूपों और व्यापारों के द्वारा अनेक बातों की गूढ़ या अगूढ़ व्यंजना करती रहती है। इस व्यंजना को न परखकर या न ग्रहण करके जो साम्यविधान होगा वह मनमाना आरोपमात्र होगा। इस अनन्त विश्व-महाकाव्य की व्यंजनाओं की परख के साथ जो साम्य-विधान होता है वही मार्मिक और उद्बोधक होता है, जैसे—

> हँस पड़े कुसुमों में छविमान, जहाँ जग में पदचिह्न पुनीत।
> वहीं सुख में आँसू बन प्राण, ओस में लुढ़क दमकते गीत॥ —गुंजन
> आकर सूनेपन के तम में, बन किरन कभी आ जाना।
> अखिल की लघुता आई बन, समय का सुन्दर वातायन।
> देखने को अदृष्ट नर्तन।—लहर
> जल उठा स्नेह दीपक-सा, नवनीत हृदय था मेरा।
> अब शेष धूमरेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा॥—आँसू

मनमाने आरोप, जिनका विधान प्रकृति के संकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य या कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप से पड़ता रहा है। इससे बहुत-सा अप्रस्तुत-विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामने आता है। प्रकृति के वस्तुव्यापारों पर मानुषी वृत्तियों के आरोप का बहुत चलन हो जाने से कहीं-कहीं ये आरोप वस्तुव्यापारों की प्रकृत व्यंजना से बहुत दूर जा पड़े हैं, जैसे चाँदनी के इस वर्णन में—

> (१) जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवनबाला।
> पीली पड़, निर्बल, कोमल, कृश देहलता कुम्हलाई।
> विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई।

चाँदनी अपने आप इस प्रकार की भावना मन में नहीं जगाती। उसके सम्बन्ध में यह उद्भावना भी केवल स्त्री की सुन्दर मुद्रा सामने खड़ी करती जान पड़ती है—

> (२) नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारदहासिनि।
> मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि॥

इसी प्रकार [illegible] को 'नयनों का बाण' कहना भी ऐसा-सा है। नीचे टूटी प्याली भी (जो बहुत प्यास करती है), किसी मैखाने से लाकर रखी जान पड़ती है—

> (३) लहरों में प्यास भरी है, है भँवर पात्र भी खाली।
> मानस का सब रस पीकर, ढुलका दी तुमने प्याली॥

प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके करना उक्त भावना की सकीर्णता सूचित करता है। कालिदास ने भी मेघदूत में निर्विध्या और सिंधु नदियों में स्त्री-सौंदर्य की भावना की है जिससे नदी और मेघ के प्रकृत सम्बन्ध की रमणीय व्यजना होती है। ग्रीष्म में नदियाँ सूखती-सूखती पतली हो जाती है और तपनी रहती है। उन पर जब मेघ छाया करता है तब वे शीतल हो जाती है और उस छाया को अंक में धारण किये दिखायी देती हैं। वही मेघ बरसकर उनकी क्षीणता दूर करता है। दोनों के बीच इसी प्राकृतिक सम्बन्ध की व्यजना ग्रहण करके कालिदास ने अप्रस्तुत-विधान किया है। पर सौंदर्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चिपकाकर करना खेल-सा हो जाता है। उषा-सुन्दरी के कपोलों की ललाई, रजनी के रत्नजटित केशकलाप, दीर्घ निश्वास और अश्रुबिन्दु तो रूढ हो ही गये है, किरन, लहर, चन्द्रिका, छाया, तितली सब अप्सराएँ या परियाँ बनकर ही सामने आने पाती है। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुबन, आलिगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीडा इत्यादि में अधिकतर परिणत दिखायी देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना-अपना अलग सौंदर्य भी है जो एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप द्वारा अभिव्यक्त नही हो सकता।

इसी प्रकार पतजी के 'छाया', 'वीचिविलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है उनमें से बहुत से तो अत्यन्त सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यजक हैं और बहुत-से रगबिरगे खिलौनों के रूप में ही है। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यजनावाद' के उदाहरण-सी लगती है जिसके अनुसार कविकल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यजना ग्रहण करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। उनके अनुसार तो प्रकृति की नाना वस्तुओं का उपयोग केवल उपादान के रूप में है, उसी प्रकार जैसे बालक ईंट, पत्थर, लकड़ी, कागज, फूलपत्ती लेकर हाथी-घोड़े, घर-बगीचे इत्यादि बनाया करते हैं। प्रकृति के नाना चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।

छायावाद की प्रवृत्ति अधिकतर प्रेमगीतात्मक होने के कारण हमारा वर्तमान काव्य प्रसगों की अनेकरूपता के साथ नयी-नयी अर्थभूमियों पर कुछ दिनों तक बहुत कम बढ़ पाया। कुछ कवियों में वस्तु का आधार अत्यन्त अल्प रहता रहा है, विशेष लक्ष्य अभिव्यजना के अनूठे विस्तार पर रहा है। इससे उनकी रचनाओं का बहुत-सा भाग अधर में टहलता-सा जान पड़ता है। जिन वस्तुओं के आधार पर उक्तियाँ मन में खड़ी की जाती है उनका कुछ भाग कला के अनूठेपन के लिए पंक्तियों के इधर-उधर से हटा भी लिया जाता है। अत कहीं-कहीं अव्यवहृत शब्दों की व्यजकता पर्याप्त न होने पर भाव अस्फुट रह जाता है, पाठक को अपनी ओर से बहुत-कुछ आक्षेप करना पड़ता है, जैसे नीचे की पंक्तियों में—

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे।
इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
आह, चूम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं,
दुख दो इतना, अरे! अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।

यहाँ कवि ने उस प्रियतम के छिपकर दबे पाँव आने की बात कही है जिसके चरण इतने सुकुमार हैं कि जब आहट न सुनायी पड़ने के लिए वे उन्हें बहुत दबा-दबाकर रखते हैं तब एड़ियों में ऊपर की ओर खून की लाली दौड़ जाती है। वही ललाई उषा की लाली के रूप में झलकती है। 'प्रसाद' जी का ध्यान शरीर-विकारों पर विशेष जमता था। इसी से उन्होंने 'चाँप चाँप कर दुख दो' से ललाई दौड़ने की कल्पना पाठकों के ऊपर छोड़ दी है। 'कामायनी' में उन्होंने मले हुए कान में भी कामिनी के कपोलों पर की 'लज्जा की लाली' दिखायी है।

अभिव्यंजना की पद्धति या काव्य-शैली पर ही प्रधान लक्ष्य रहने से छायावाद के भीतर उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ है! साम्यभावना और लक्षणाशक्ति के बल पर किस प्रकार काव्योपयुक्त चित्रमयी भाषा की ओर सामान्यतः झुकाव हुआ यह भी कहा जा चुका है। साम्य पहले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक—ऐसे अलंकारों के बड़े-बड़े साँचों के भीतर ही फैलाकर दिखाया जाता था। वह अब प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिए दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्तिपद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है। पर यह न समझना चाहिए कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग नहीं होता है, बराबर होता है और बहुत होता है। उपमा में धर्म बराबर लुप्त रहता है, प्रतिवस्तूपमा, हेतूत्प्रेक्षा, विरोध, श्लेष, एकावली इत्यादि अलंकार भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं।

किस प्रकार एक बँधे घेरे से निकलकर अब छायावादी कहे जानेवाले कवि धीरे-धीरे जगत् और जीवन के अनन्त क्षेत्र में इधर-उधर दृष्टि फैलाते देखे जा रहे हैं, इसका आभास दिया जा चुका है। अब तक उनकी कल्पना थोड़ी-सी जगह के भीतर कलापूर्ण और मनोरंजक नृत्य-सा कर रही थी। वह जगत् और जीवन के जटिल स्वरूप से घबरानेवालों का जी बहलाने का काम करती रही है। अब उसे अखिल जीवन के नाना पक्षों की मार्मिकता का साक्षात्कार करते हुए एक करीने के साथ रास्ता चलना पड़ेगा। इसके लिए उसे अपनी चपलता और भावभंगिमा का प्रदर्शन, क्रीड़ाकौतुक की प्रवृत्ति कुछ संयत करनी पड़ेगी। इस ऊँचे-नीचे मर्मपथ पर चित्रों का बहुत अधिक फालतू बोझ लादकर चलना भी वाणी के लिए उपयुक्त न होगा। प्रसादजी ने 'लहर' में छायावाद की चित्रमयी शैली को तीन ऐतिहासिक जीवन-खंडों के बीच ले जाकर आजमाया है। उनमें कथावस्तु का विन्यास नाटकीय पद्धति पर करके उन्होंने बाह्य और आभ्यंतर परिस्थितियों का व्यंजक, मनोहर मार्मिक या आवेशपूर्ण शब्दविधान किया है। पर कहीं-कहीं जहाँ मधुमय चित्रों की परम्परा दूर तक चली है वहाँ समन्वित प्रभाव में बाधा पड़ी है। 'कामायनी' में उन्होंने नरजीवन

के विकास में भिन्न-भिन्न भावात्मिका वृत्तियों का योग और सघर्ष वडी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार निरालाजी ने, जिनकी वाणी पहले से भी वहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानस-विकास का वडा ही दिव्य और विशाल रगीन चित्र खीचा है।

नया मोड़

हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रथम महायुद्ध

जिन दिनों हिन्दी-कविता नये रास्ते पर मुड़ने की तैयारी कर रही थी उन्हीं दिनों प्रथम महायुद्ध के बादल घुमड़ रहे थे। १९१४ ई० में प्रथम विश्व-महायुद्ध छिड़ा। पाँच वर्षों के घोर घमासान में बहुत-सी पुरानी मान्यताएँ धराशायी हुईं, बहुत-सी चल बसीं और बहुत-सी नई मान्यताएँ प्रस्फुटित हो गईं। व्यावसायिक क्रान्ति ने जिस वैयक्तिक स्वाधीनता के आन्दोलन को उत्पन्न किया था उसकी परिणति बहुत अच्छी नहीं हुई। सामन्ती शासन तो इंगलैंड से तथा अन्य यूरोपीय देशों से भी उठ गया लेकिन पैसा सिमटकर कुछ थोड़े-से लोगों के हाथ में आ गया। धनी और दरिद्र का, स्वत्वाधिकारी और स्वत्वहीनों का व्यवधान निरंतर बढ़ता ही गया। राष्ट्रीयता के मोहन-मंत्र से कुछ काल तक स्वदेशी जनता को संतुष्ट किया जाता रहा। उधर भौतिक-विज्ञान की उन्नति के साथ मशीनों की उन्नति होती गई और उत्पादन भी बढ़ता गया। अधिक उत्पादन के लिए अधिक कच्चे माल की आवश्यकता थी और उत्पादित वस्तु की खपत के लिए बाजार की जरूरत थी। अविकसित देशों पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करके दोनों उद्देश्य की सिद्धि हो सकती थी। इसीलिए यूरोप में जो देश व्यावसायिक दृष्टि से अग्रसर थे। उनमें उपनिवेश दखल करने की *होड़ मची। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक लगभग समूचे एशिया और अफ्रीका के महाद्वीप* इस होड़ के शिकार हुए। जिनकी व्यावसायिक उन्नति हो चुकी थी किंतु जिन्हें उपनिवेश *नहीं मिल सकते थे या कम मिले थे उनके चित्त में ईर्ष्या का संचार हुआ। थोड़े समय तक* ईर्ष्या भीतर-ही-भीतर पकती रही। फिर एकाएक उसका विस्फोट महायुद्ध के रूप में हुआ। *समृद्धशाली राष्ट्र कुछ भेड़ियों की तरह एक-दूसरे पर टूट पड़े। सबकी पूंछ में कोई-*न-कोई देश बँधा था। देखते-देखते इस धरती की पीठ पर संपूर्ण संसार भयंकर जिघांसा से मत्त होकर जूझ पड़ा। कुछ हारे, कुछ जीते, कुछ बुरी तरह बरबाद हो गए।

नवीन सांस्कृतिक चेतना की लहर

युद्ध के बाद देखा गया कि श्वेत जातियों की बहु-प्रचारित श्रेष्ठता का दावा झूठा था, राष्ट्रीयता के महान् मोहन-यंत्र से सारे देश को 'एक' करने के प्रयत्न में कुछ थोड़े से धनकुबेरों का स्वार्थ ही प्रबल हेतु था और उपनिवेशों के लोगों को सभ्य और शासनक्षम

की मर्मव्यथा सबसे अधिक अनुभव की। उसकी सभ्यता बहुत पुरानी थी, उसकी संस्कृति बहुत उदार थी और उसके ऐतिहासिक अनुभव विशाल थे। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते-न-होते सारे देश मे नई चेतना की लहर दौड गई। १६२० ई० मे महात्मा गाधी के नेतृत्व मे भारतवर्ष विदेशी गुलामी को भाड फेंकने के लिए कटिबद्ध हो गया। असहयोग-आदोलन इसी प्रयत्न का राजनीतिक मूर्त रूप था। इसे सिर्फ राजनीति तक ही सीमित नही समझना चाहिए। यह सपूर्ण देश का, आत्मस्वरूप समझने का, प्रयत्न था और अपनी गलतियो को सुधार कर ससार की समृद्ध जातियो की प्रतिद्वद्विता मे अग्रसर होने का सकल्प था। सक्षेप मे यह एक महान् सास्कृतिक आदोलन था। उस समय देश की स्वाधीनता को केवल देश को महान् बनाने का साधन भर समझा गया। आधुनिक काल मे आत्मविश्वास की ऐसी प्रचड लहर इसके पूर्व कभी इस देश मे नही दिखाई पडी थी। जनता का जो भाग पिछडा हुआ था, जो पर्दे मे कैद था, जो अपमानित और उपेक्षित था, उसके प्रति सामूहिक रूप से सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ। सौभाग्य से इस महान् आदोलन का नेता महात्मा गाधी जैसा सत्यनिष्ठ महापुरुष था। ससार ने पहली बार शत्रु के विरुद्ध नि शस्त्र सैनिक-युद्ध जिसका प्रधान अस्त्र मैत्री और प्रेम था—देखा। यह पूरा-का-पूरा आदोलन मानवीय प्रयत्नो की सात्त्विक अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट हुआ था, इसलिए इसका बाह्य और आन्तर रूप सांस्कृतिक था। भारतवर्ष मे सब प्रकार से नवीन जागरण का सूत्रपात हुआ। इस महान् आदोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बधनमुक्त किया। यही बधनमुक्त चित्त काव्यो, नाटकों और उपन्यासो मे नाना भाव से प्रकट हुआ। परन्तु काव्य मे वह जिस रूप मे व्यक्त हुआ वह कुछ काल तक अपरिचित जैसा लगा।

नवीन शिक्षा-पद्धति का परिणाम

देश मे जिस नवीन शिक्षा-पद्धति का प्रवर्तन हुआ था वह एक ओर जहाँ पुराने सस्कारो से विद्यार्थी का सम्पर्क ही बहुत कम होने देती थी वहाँ दूसरी ओर जड-विज्ञान और मानवतावादी तत्त्ववाद पर आधारित काव्य-दर्शन और नीति-विज्ञान की पढाई के द्वारा विद्यार्थी को एकदम नये मूल्यो (वैल्यूज) की दुनियाँ मे उठा ले जाती थी। इस प्रकार हिन्दी-भाषी प्रदेशो मे वह शिक्षित समाज तैयार होने लगा था जिसके चित्त पर प्राचीनता का कोई सस्कार नही था और नवीन मान्यताओ और मूल्यो का बहुत मान था। इस शिक्षा-पद्धति से शिक्षित नवयुवक अपने देश मे ही अजनबी-सा था। उसके चित्त मे रोमाटिक अंग्रेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी, परन्तु बाह्य जगत् मे उसका कोई सामजस्य नही था। वह नवीन मूल्यो को अपनी भाषा मे व्यक्त भी नही कर पाता था। सवेदनशील युवक के मन मे यह बड़े ही अन्तर्द्वंद्व का कारण था। स्वच्छदतावादी वैयक्तिक दृष्टिभगी को व्यक्त करने योग्य भाषा भी नही बन पाई थी। बगाल के कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी इस कठिनता का अनुभव करना पडा था। अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने वक्तव्य के अनुकूल भाषा का अनुकरण किया किन्तु सब मिलाकर वह भाषा भी हिन्दी प्रदेशो के लिए अपरिचित ही थी। बहुत दिनो तक छायावादी कवियों की यह भाषा व्यग्य और उपहास का विषय बनी रही।

आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के बहुल प्रचार से, हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गई हैं और जिन बातों को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं मानी जातीं। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय को उस प्रकार के दुखान्त नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती जिनके कारण यवन (ग्रीक)-साहित्य इतना गरिमामंडित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गए हैं। उन दिनों कर्मफलप्राप्ति की अवश्यम्भाविता और पुनर्जन्म में विश्वास इतने दृढ़ भाव से बद्धमूल था कि संसार की सम्पूर्ण व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था। परन्तु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सरस बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गई है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नहीं माना जाता बल्कि मनुष्य की विकृत-समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूति-योग्य) माना जाने लगा है। इस प्रकार के परिवर्तन एक-दो नहीं अनेक हुए हैं और इन सबके परिणामस्वरूप सिर्फ साहित्य की प्रकाशन-भंगिमा में ही अन्तर नहीं आया है, उसके आस्वादन के तौर-तरीकों में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है। फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं उनमें कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है। साहित्य का जिज्ञासु यदि मूल्यों के परिवर्तन का ठीक-ठीक ध्यान न रखे तो वह साहित्य के नवीन प्रयोगों को एकदम नहीं समझ सकेगा। रीतिकालीन मूल्यों को स्वीकार करने वाला सहृदय नवीन उत्थान की हिन्दी-कविता को नहीं समझ सकेगा। १९२० ई० के हिन्दी-साहित्य को समझने के लिए नवीन परिवर्तित मान्यताओं की जानकारी आवश्यक है।

विषयप्रधान कविता

जब कवि की दृष्टि वर्ण्य-वस्तु पर निबद्ध होती है तो कविता विषयप्रधान हो जाती है। उसमें कवि के राग-विरागों का यथासम्भव कम योग रहता है। वह विषय को जैसा है वैसा, या जैसा होना चाहिए वैसा (यथार्थ या आदर्श रूप में) चित्रित करता है। इस श्रेणी की कविता के लिए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था कि उत्तम काव्य लिखना चाहते हो तो उत्तम विषय चुनो। १९००-१९२० ई० की खड़ीबोली की कविता में विषय-वस्तु की प्रधानता बनी हुई थी। परन्तु उसके बाद की कविता में कवि के अपने राग-विराग की प्रधानता हो गई। जिसका कारण आगे दिया है, यह मुख्य कारण नहीं था बल्कि मुख्य कारण यह रह गई थी कि चित्री (कवि) के चित्त के भाव चित्रण में अनुरंजित होकर के व्यक्त हो जाता है। फिर उसके रूप हो गया चित्री (कवि) प्रधान।

परन्तु नवीन कवियों ने हार नहीं मानी। माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा जैसे गुरुवियों ने भाषा को अपने भावों के अनुकूल बनाया। शुरू-शुरू में यह कुछ विचित्र-सी सुनाई पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों की इतिवृत्तात्मक कविता से जो परिचित थे उनको छायावादी कविताओं का विचित्र लगना स्वाभाविक था, क्योंकि यह वस्तु-वस्तु तथा शिल्प दोनों में बहुत कुछ नवीन थी। यद्यपि श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि ने स्वच्छन्दतावादी काव्य-सर्जना का श्रीगणेश कर दिया था फिर भी उनके काव्यों से सन् २० से ३६ के बीच की कविता का बहुत दृढ़ परस्परिक सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप छायावादी काव्य जिस आवेग से प्रादुर्भूत हुआ वह सचमुच में नया प्रतीत हुआ। इसका नयापन इसमें ही निहित था कि उसने रूढ़िबद्ध मूल्यों और पुरातन साहित्यिक संस्कारों को प्रबल धक्का दिया। चारों ओर के आक्रमण के कारण इन कवियों में अस्पष्टता, झिझक और संकोच का भाव रह गया था। परन्तु इन कवियों ने भाषा को अपने अनुकूल बना लिया, यही इस बात का सबूत है कि इनके पास कहने लायक बहुत-सी बातें अवश्य थीं। जिसके पास कुछ कहने को होता है वह उसके लिए भाषा बना लेता है। भाषा में दुर्बोधता तब आती है जब कहने वाले के पास कहने को कोई बात नहीं होती। शुरू-शुरू में इस प्रकार की कविता के उपासक ऐसे कवि अवश्य थे जो मोर का पंख खोंसकर मोर बने हुए थे। उनमें न तो वास्तविक कवित्व-शक्ति थी, न उनके पास कहने योग्य कोई बात ही थी। ऐसे कवियों ने उस श्रेणी की कविता के यश को म्लान किया जिसे आगे चलकर छायावादी कविता कहा जाने लगा। चित्तगत उन्मुक्तता इस कविता का प्रधान उद्गम थी और बदलते हुए मानों के प्रति दृढ़ आस्था इसका प्रधान सम्बल। इस श्रेणी के कवि आहिता-शक्ति से बहुत अधिक सम्पन्न थे और सामाजिक विषमता और असामंजस्यों के प्रति अत्य-धिक सजग थे। शैली की दृष्टि से भी ये पहले के कवियों से एकदम भिन्न थे, इनकी रचना प्रधानतः विषयिप्रधान थी। हम आगे विषयिप्रधान कविता के मुख्य लक्षणों की विवेचना करेंगे, यहाँ संक्षेप में समझ लिया जाय कि नयी मान्यता और नये मूल्यों से हमारा क्या तात्पर्य है।

साहित्य की नयी मान्यताएँ

साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नहीं होतीं। नयी परिस्थितियों में जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आचारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। सभी मानों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नए अनुभव होते हैं। यह समझना गलत है कि किसी देश का मनुष्य सदा-सर्वदा किसी व्यापार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आए हैं। पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और पुराने संस्कारों के साथ नये अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है। वैज्ञानिक साधनों के परिचय से, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के दबाव और

आधुनिक शिक्षा की मानववादी दृष्टि के बहुल प्रचार से, हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गई हैं और जिन बातों को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं मानी जाती। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय को उस प्रकार के दु:खान्त नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती जिनके कारण यवन (ग्रीक)-साहित्य इतना गरिमामंडित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गए हैं। उन दिनों कर्मफलप्राप्ति की अवश्यम्भाविता और पुनर्जन्म में विश्वास इतने दृढ़ भाव से बद्धमूल था कि संसार की समजस व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था। परन्तु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सरल बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गई है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नहीं माना जाता बल्कि मनुष्य की विकृत-समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूति-योग्य) माना जाने लगा है। इस प्रकार के परिवर्तन एक-दो नहीं अनेक हुए हैं और इन सबके परिणामस्वरूप सिर्फ साहित्य की प्रकाशन-भंगिमा में ही अन्तर नहीं आया है, उसके आस्वादन के तौर-तरीकों में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है। फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं उनमें कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है। साहित्य का जिज्ञासु यदि मूल्यों के परिवर्तन का ठीक-ठीक ध्यान न रखे तो वह साहित्य के नवीन प्रयोगों को एकदम नहीं समझ सकेगा। रीतिकालीन मूल्यों को स्वीकार करने वाला सहृदय नवीन उत्थान की हिन्दी-कविता को नहीं समझ सकेगा। १९२० ई० के हिन्दी-साहित्य को समझने के लिए नवीन परिवर्तित मान्यताओं की जानकारी आवश्यक है।

विषयप्रधान कविता

जब कवि की दृष्टि वक्तव्य-वस्तु पर निबद्ध होती है तो कविता विषयप्रधान हो जाती है। उसमें कवि के राग-विरागों का यथासम्भव कम योग रहता है। वह विषय को जैसा-है-वैसा, या जैसा-होना-चाहिए-वैसा (यथार्थ या आदर्श रूप में) दिखाकर चित्रित करता है। इस श्रेणी की कविता के लिए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था कि उत्तम काव्य लिखना चाहते हो तो उत्तम विषय चुनो। १९००-१९२० ई० की खड़ीबोली की कविता में विषय-वस्तु की प्रधानता बनी हुई थी। परन्तु इसके बाद की कविता में कवि के अपने रागविराग की प्रधानता हो गई। विषय अपने आप में कैसा है, यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गई थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग-विराग से अनुरंजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमें गौण हो गया, विषयी (कवि) प्रधान।

वास्तविकता से ऊपर उठकर एक अद्भुत और मनोरम जगत की सृष्टि करता है। एक युग ऐसा बीता है जब संसार के साहित्य में कल्पना का प्राधान्य रहा है। कवि इस दुनिया के समानान्तर आकाश पर ही एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करता था जहाँ देवी और प्रेमिकाएँ तो हमारे जैसी ही होती थीं पर वहाँ के वातावरण-अनुकूल प्रत्येक ढंग के होने से और स्वच्छन्द प्रेम में जो गहरी बाधाएँ इस जगत् में आके खड़ी हो जाती हैं वे वहाँ नहीं होती थीं।

चिन्तन

परन्तु जब कवि चिन्तन की अवस्था में पहुँचता है तो वह प्रायः कल्पना की अवस्था पार कर चुका होता है। इसलिए वह किसी चीज को शुद्ध मनोयोगी की भाँति न देखकर उस पर कल्पना का आवरण डाल कर देखता है। क्षितिज के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए नील नभोमण्डल, मणियों के समान नक्षत्र और चन्द्रिकाधौत धरित्री को देख कर वह भले ही कुछ भी चिन्तन क्यों न करे, एक बार दंतरत्नप्रभाधारिणी विरहिणी, *भूरिभूषण सुन्दरी या प्रिय-वियोग में कातर, मलिना रजनी या इसी प्रकार की* कल्पना किए बिना नहीं रहता। कारण यह है कि कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बिम्ब-ग्रहण कराना है और उसका साधन अप्रस्तुत-विधान है। इसके बिना कवि मनोरम भाव को हृदयग्राही बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नहीं सकता। अप्रस्तुत-विधान के समय कवि की कल्पना-वृत्ति साह पर आ गई होती है। वस्तुतः चिन्ता करते समय भी कवि वैज्ञानिक की भाँति तथ्य का विश्लेषण नहीं करता होता, बल्कि सत्य को सुन्दर करके रखने का प्रयास करता है।

अनुभूति

कवि अपने सीमित व्यक्तित्व में जिस सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त किए होता है, उसे वह जब कल्पना के साहाय्य से, छन्द, अलंकार आदि के संयोग में और निखिल विश्व की मर्म-व्यथा की चिन्ता करके सर्वसाधारण के ग्रहणयोग्य बनाकर प्रकट करता है, तो उसे हम अनुभूति-अवस्था कहते हैं। इस कविता में कवि अपने सीमित सुख-दुःख को असीम जगत् में अनुभव करता है। इस प्रकार चिन्तन की अवस्था में कवि संसार को देखता है और सोचता है कि यह सब क्या हो रहा है, कैसे चल रहा है और क्यों चल रहा है? अनुभूति की अवस्था में वह अनुभव करता है कि यह क्या हो गया है, कौन-सी वेदना या उल्लास, विषाद या हर्ष संसार को किस रूप में परिणत कर रहा है? कल्पना की अवस्था में वह इस जगत् के समानान्तर जगत् की सृष्टि करता है, जिसमें इस जगत् की

अमूर्त्ताएँ और विसदृशताएँ नहीं रहती, पर अनुभूति की अवस्था में उसके पैर इस दुनियाँ पर ही जमे रहते है, वह इसे छोड़ नही सकता।

इन तीन श्रेणी के विचारों के प्रस्तार-विस्तार मे आधुनिक काल की विषयि-प्रधान कविता अनेकरूपा दिखती है। इन कविताओं मे उसकी मुख्य विशेषता इनकी वैयक्तिकता-प्रधान दृष्टि ही है।

नवीन प्रगीत मुक्तक

काव्य में विषयी के प्रधान होने से उन गीतात्मक मुक्तकों का प्रचलन बढ़ गया जो व्यक्तिगत भावोच्छ्वास पर आश्रित होते थे। इग्लैंड में जब व्यावसायिक क्रान्ति हुई तो वहाँ के सांस्कृतिक जीवन मे बड़ा परिवर्तन हुआ था। उस परिवर्तन के समय कवियों और विचारकों मे सामाजिक रूढ़ियों के प्रति अनास्था का भाव बढ़ा था और व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज़्म) का जोर रहा। अंग्रेजी अमलदारी के साथ-ही-साथ इस देश मे अंग्रेजी-साहित्य पढ़ाया जाने लगा। उसके फलस्वरूप भी इस देश के कवियो मे वैयक्तिक स्वाधीनता (इंडिविजुअल लिबर्टी) का जोर बढ़ता गया। इग्लैंड और इस देश की परिस्थिति एक जैसी नही थी। इग्लैंड मे यह हवा वहाँ के भीतरी जीवन का परिणाम थी, जबकि इस देश मे वह विदेशी संसर्ग और अन्य कारणों का फल थी। इसीलिए शुरू-शुरू मे यह अस्वाभाविक-सी लगी परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों कविगण अपने देश की वास्तविक परिस्थिति के साथ अपनी साहित्यिक परम्परा का सामंजस्य खोजने गए। सामंजस्य खोजने वालों मे प्रमुख कवि है—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा। इन कवियों ने भाव मे, भाषा मे, छन्द मे और मंडन-शिल्प (डेकोरेशन) में नवीन विचारों के साथ सामंजस्य किया। इस व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद के साथ-ही-साथ नाना भाव के प्रगीत मुक्तक इस देश मे लिखे जाने लगे।

जैसा कि पहले दिखाया गया है, इनमे कुछ कल्पनामूलक हैं, कुछ चिन्तनमूलक और कुछ अनुभूतिमूलक। मुक्तक इस देश मे नई चीज नही है। हाल की 'प्राकृत-सतसई' और अमरुक का संस्कृत 'अमरुक-शतक' और बिहारी की 'सतसई' मुक्तक-काव्य ही है। "मुक्तक मे प्रबन्ध के समान वह रस की धारा नही रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नही होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके इन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा मे व्यक्त करना पड़ता है।" (रामचन्द्र शुक्ल) पुराने मुक्तकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इन (प्राचीन मुक्तकों) में कवि की कल्पना कुछ ऐसे स.रस्रूक्ष्म व्यापारों की योजना करती थी जिनसे किसी रस या भाव की व्यंजना मुक्त

हो। आधुनिक प्रगीत-मुक्तक कवि के भावावेग के क्षणों की रचना होते हैं, उनमें गीत की सहज और हल्की गति होती है। इनकी गुलदस्तों के साथ तुलना नही की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होने पर भी प्रवाहशील होते हैं और इनमें शास्त्र-प्रसिद्ध व्यापार-योजना की आवश्यकता नही होती। पुराने रूपको में कवि-कल्पना की समाहार-शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी पर आधुनिक मुक्तको मे कवि का भावावेग ही प्रधान होता है।

प्रगीत मुक्तक क्यों प्रभावित करते हैं

परन्तु इतना स्मरण रखना उचित है कि आजकल के प्रगीत मुक्तकों में यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्राधान्य है तो भी वे इसलिए हमारे चित्त मे आनंद का सचार नही करते कि वे हमारी अपनी अनुभूतियों को जागृत करते हैं। जो बात हमारे मन को आनंद से तरंगित कर देती है वही हमारी 'अपनी' होती है। इसलिए यद्यपि आज के अच्छे मुक्तक-लेखक कवि की विषय-ग्राहिता परम्परा द्वारा समर्थित न होकर आत्मानुभूति-मूलक है तथापि वह पाठक के भीतर पहले से ही वासना-रूप मे स्थित भावो को उद्बुद्ध करके ही रस-सचार करती है।

इस बात को किसी अग्रेज समालोचक ने इस प्रकार कहा है कि आधुनिक प्रगीत-मुक्तकों में कवि अपनी अनुभूति के बल पर सहृदय पाठक के हृदय मे प्रवेश करता है, और उसके हृदय मे स्थित उसी भाव के अनुभव करने वाले कवि के साथ एकात्मता का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा गया है कि यद्यपि आज का प्रगीत-मुक्तक व्यक्तिगत विषयग्राहिता का परिणाम है, परन्तु वह उतना ही सामाजिक है जितना रीतिकालीन रूढ़ियों की योजना के भीतर गृहीत मुक्तक होता था। इस प्रकार दोनों मे समानता की मात्रा कम नही है। व्यक्तिगत होने के कारण इन अनुभूतियों का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है।

पुराने और नये मुक्तकों में अन्तर

पुराने मुक्तक में जिन विभावों की योजना केवल उद्दीपन के रूप मे होती थी और जिन अनुभावों का वर्णन केवल मानवीय मनोरागो की अपेक्षा मे ही होता था वे विभाव अब आलम्बन के रूप में योजित होने लगे हैं और वे अनुभाव अब मनुष्य के बाहर के जगत् के कल्पित मनोरागो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त किए जाने लगे हैं। ऐसा करने के कारण भाषा मे अधिकाधिक लाक्षणिकता आने लगी है, क्योंकि जड प्रकृति को यदि आलम्बन बनाकर उसमें अनुभावों और हावों की योजना की जायगी तो लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना ही पड़ेगा। हिन्दी के कुछ वृद्ध आचार्यों को इस प्रकार की योजना पसन्द नही आई थी।

छायावाद नाम

इसी नवीन प्रकार की कविता को किसी ने 'छायावाद' नाम दे दिया है। यह शब्द बिल्कुल नया है। यह भ्रम ही है कि इस प्रकार के काव्यों को बँगला मे छायावाद कहा जाता था और वहीं से यह शब्द हिन्दी मे आया है। छायावाद शब्द केवल चल पड़ने

के जोर से ही स्वीकारणीय हो सका है, नहीं तो इस श्रेणी की कविता की प्रकृति को प्रकट करने में यह शब्द एकदम असमर्थ है। बहुत दिनों तक इस काव्य का उपहास किया गया है और बाद में भी इसे या तो चित्रभाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति के रूप में माना गया या फिर रहस्यवाद के अर्थ में। उपहास और व्यंग्यों का काफी विस्तृत साहित्य सूचित करता है कि औसत श्रेणी के सहृदय को इस कविता की महत्ता स्वीकार करने में समय लगा है, वह इसे एकदम नवीन और अवाञ्छनीय वस्तु समझता रहा है। शैली रूप में इसे स्वीकार करने वालों के मन में भी इस श्रेणी की कविता के विषय में विशेष गौरव का भाव नहीं है।

ऊपर के विचारों का निष्कर्ष

ऊपर जो बातें कही गई हैं उनको संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना विचारे ही दे दिया गया था (क) जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी, (ख) जो वक्तव्य विषय को कवि की व्यक्तिगत चिन्तना और अनुभूति के रंग में रँग कर अभिव्यक्त करती थी, (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी, (घ) जिनमें छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और (च) जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई गई थी, (२) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था; यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में आने को अभिव्यक्त किया और (३) सभी उल्लेखयोग्य कवियों में थोड़ी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी। जिन कवियों ने शास्त्रीय और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव दिखाया उनके इस भाव का कारण तीव्र सांस्कृतिक चेतना ही थी।

छायावादी कविता का प्राणतत्त्व

नए मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले कवि के चित्त में उन काव्य-रूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता जो दीर्घकालीन परम्परा और रीतिबद्ध चिन्तन-पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति में अन्तराय उपस्थित करती है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौंदर्य की नई दृष्टि मिलती है, क्योंकि मानवीय आचारों और क्रियाओं के मूल्य में अन्तर आ जाता है। इस अवस्था में सौंदर्य केवल बाह्यरूप में नहीं रहता बल्कि आन्तरिक औदार्य और मानस-गठन में भी व्यक्त होता है। यही कारण है कि छायावादी कविता बाह्य ऐंद्रिय बोध तथा चेतन मन की सीमाओं को पार कर अचेतन के रहस्य-लोक तक पहुँचती है और जाने-अनजाने उसका मर्मोद्घाटन करती है। ऐसे कार्यों में मुक्ति-कामी मन की पैठ ही गहरी हो सकती है। यह मुक्ति उनके प्रेम-चित्रण में है जो उसे द्विवेदी-युग की मर्यादाओं से विजड़ित प्रेम-वर्णनों से पृथक् कर देती है, उनके

अध्यात्म-दर्शन में है जो उन्हें भक्ति-परक काव्यों की बहुत कुछ साम्प्रदायिक तथा निर्वैयक्तिक अभिव्यक्तियों से अलग करने में समर्थ होती है; यह उनके प्रकृति-वर्णन में है जो उन्हें उद्दीपनात्मक प्रकृति-वर्णन की काव्य-परम्परा से विच्छिन्न करके एक नूतन प्रवर्तन की ओर उन्मुख करती है। छन्द के बन्धन को तोड़ने में यही क्रियाशील है।

सौन्दर्य के बँधे-सधे आयोजनों, घिसे-पिटाए उपमानों और पिटी-पिटाई उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिन्तन-शून्य काव्य-रूढ़ियों से मुक्ति पाता हुआ कवि नवीन मानवत्व के मापदंड से सब कुछ देखता है और फिर कल्पना के अविरल प्रवाह में अन-श्लिष्ट आवेगों की वह उर्वरभूमि प्रस्तुत होती है जो रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। मानवीय दृष्टि से कवि की कल्पना अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वत समुच्छ्वसित अभिव्यक्ति—बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वत निरन्तर बहता हुआ भावस्रोत—ही छायावादी कविता का प्राण है।

नयी कविता

नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी-कविता पिछले दस वर्षों से (सन् १९३५ के आसपास से) एक नवीन आरोह की ओर बढ़ रही है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर इसकी गति-विधि का ठीक पता नहीं लगता। हम समझ नहीं पाते कि नयी कविता का स्वर-ताल क्या है, उसका 'सम' कहाँ है? इतने विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुन पड़ रही हैं कि मध्यवर्ती रागिनी या रागिनियों का परिचय पाना कठिन हो गया है। कभी हम पुरानी शैली के किसी प्रस्थात कवि को नया अभ्यास करते देखकर उसे ही नये काव्य का प्रतिनिधि मान लेते हैं और कभी नयी शैली की किसी उत्तम रचना की भी उपेक्षा कर जाते हैं। जो वास्तव में कविता ही नहीं है, उसे भी कविता मानकर तूल देने लगते हैं और जो वास्तविक और प्रतिनिधि कविता है उसकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते। नयी कविता का कोई विशिष्ट प्रतिनिधि न होने के कारण इस क्षेत्र में काफी गड़बड़ी फैली हुई है।

थोड़ी-सी पैठ रखने वाले व्यक्ति भी यह जानते हैं कि वर्तमान युग की कविता, शैली की दृष्टि से, तीन श्रेणियों में विभाजित है। द्विवेदी-काव्य-शैली, छायावादी शैली और आज की नवीन शैली। शब्द-प्रयोगों की दृष्टि से, भाषा-परिपाटी की दृष्टि से, चित्रण-क्रम, काव्य-स्वरूप तथा अनुभूति-प्रकार की दृष्टि से, द्विवेदी-युग की कविता छायावाद-काव्य से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। कुछ लोगों ने यह समझ रखा है कि द्विवेदी-युग के कुछ कवि छायावाद-शैली की रचना भी कर चुके हैं। उदाहरण के लिए मैथिलीशरणजी की मुक्तक रचनाएँ अथवा उनके 'साकेत' के गीत कुछ लोगों की राय में छायावादी हैं, किन्तु काव्य-शैलियों की परख रखने वाले सभी साहित्यिक यह बता सकते हैं कि गुप्तजी की इन रचनाओं का छायावादी काव्य-शैली से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। छायावाद का आरम्भ मध्यकालीन रीति-काव्य के आन्दोलिक विरोध में हुआ था। न केवल रचना-शैली में, वरन् नवीन जीवन-दृष्टि और उसकी भावना-कल्पना में छायावाद के कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य साधन माना था, जबकि गुप्तजी में पुराने में पौराणिक भावना और संस्कार तथा रीतिबद्ध वर्णन-शैली का प्रभाव विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि दो काव्य-धाराओं के बीच में कुछ ऐसे भी कवि हों, जिनका झुकाव दोनों ओर दिखाई पड़े; पर जब युग की काव्य-पद्धति का प्रश्न उठेगा, तब ऐसे कवियों की गणना उनके उपयुक्त स्थान पर ही होगी। उन्हें युग-धारा का प्रतिनिधि कवि नहीं कहा जाएगा।

द्विवेदी-शैली को हम खड़ीबोली की प्रारम्भिक प्रयोगात्मक शैली कह सकते हैं। उस युग का काव्य किसी व्यवस्थित काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार से विशुद्ध काव्य है भी नहीं। उसे हम पद्य-बद्ध रचना भी कह सकते हैं। उसमें काव्य-भावना या वस्तु चित्रण से पृथक् उपदेश का पुट है। सुन्दर पदों में भी नितान्त ही इस का-सा वस्तु-विन्यास पाया जाता है। अलंकरण इतिवृत्त और काव्य-बाह्य भावना का विशेष स्थान-स्थान पर मिलता है। द्विवेदी जी ने काव्य की भाषा पर अपना वक्तव्य देते हुए यह कहा है कि गद्य और पद्य में एक ही भाषा, एक ही-सी शब्दावली होनी चाहिए। इस वक्तव्य से लक्षित होता है कि काव्य का स्वरूप उस समय इतना अविकसित था कि कविता और गद्य के भाषा-प्रयोग-सम्बन्धी अन्तर की ओर भी दृष्टि नहीं जा सकी।

उस युग के श्रेष्ठ कवियों की रचना-शैली पर भी विशुद्ध काव्य-पद्धति के स्थान पर भाषण-पद्धति की छाप देखी जाती है। भावना का अभिव्यंजना या रचना से अनिवार्य सम्बन्ध न स्थापित होने के कारण उक्तियों का चमत्कार और मुक्तक-प्रणाली की सब विशेषताएँ इस युग की कविता-शैली के साथ लगी रह गयी हैं। छन्दों के व्यवहार में या तो संस्कृत-छन्दों का प्राधान्य है, या हिन्दी के पुराने छन्दों का। अलंकार-योजना में भी प्राचीन परम्परागत पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है। नयी कल्पना का सम्बन्ध नये वस्तु-जगत् और कवि की नवीन जीवन-दृष्टि से होता है, पर उसका सम्पूर्ण विकास द्विवेदी-युग के काव्य में नहीं हो पाया। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे कवि भी अपने 'प्रिय प्रवास' में पवनदूत की योजना करते हैं, जो मेघदूत की छाया लिये हुए है, और मैथिलीशरणजी 'साकेत' के नवम सर्ग में भी ऋतु-वर्णन की पुरानी परिपाटी और पुराने भाव-संकेतों को नहीं छोड़ पाये हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज की बौद्धिकता की छाप इस युग के सभी कवियों पर किसी-न-किसी रूप में पड़ी है। उपाध्यायजी के 'प्रिय-प्रवास' में राधा और कृष्ण का जो स्वरूप अंकित किया गया है, वह आर्य-समाज द्वारा किये गये पौराणिक और मध्यकालीन कवियों के विवेचन से पूरी तरह प्रभावित है। उक्त दोनों चरित्रों में एक आदर्शवादी कृत्रिमता स्वाभाविक काव्य-चित्रण में विक्षेप उत्पन्न किये बिना नहीं रही, यद्यपि भावना तथा अभिव्यंजना की सरलता उनके काव्य में अपना सुन्दर आकर्षण भी रखती है।

बौद्धिक धारणाओं और तर्कवाद की प्रधानता के कारण हार्दिक अनुभूतियों का मार्ग अवरुद्ध हो रहा था। द्विवेदी-कालीन इस अवरोध के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, वह छायावादी कविता की काव्य शैली और भावना-धारा में स्पष्ट दिखाई दी। भाषा में लाक्षणिकता का आविर्भाव हुआ, जो द्विवेदी-युग के स्थूल प्रयोगों से बिल्कुल भिन्न थी। कुछ समीक्षकों ने इस शब्दावली को ही नये काव्य की विशेषता मान लिया है, किन्तु नवीन काव्य-स्वरूप का निर्माण केवल शब्दावली के परिवर्तन से ही नहीं हो जाता। यह काव्यानुभूति और जीवन-दृष्टि के परिवर्तन का एक उपलक्षण-मात्र है। केवल शैली-साधन और लाक्षणिकता के लिए लाक्षणिकता का यह युग नहीं था। वैसे काव्य-युग

जिनमे केवल शैली का आग्रह रहता है, रीतिवादी होते है। अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपत् विन्यास ही वास्तविक काव्य-विकास का द्योतक होता है। द्विवेदी-युग की बौद्धिकता, नीतिमत्ता और उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया एक अपूर्व कल्पना-प्रवणता, वैयक्तिक वेदना तथा सौन्दर्य-दृष्टि के रूपो में हुई। प्रकृति और मानव-जीवन का सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा दी गयी। उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमुखता हो गयी। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-शैली मे भाषा का परिष्कार तथा उसकी संगीतात्मकता इतनी ऊँची उठी कि बोलचाल के प्रयोगों से वह बहुत दूर चली गयी।

> कौन-कौन तुम परिहृत-वसना म्लान-मना भू-पतिता-सी।
> वातहता विच्छिन्न लता-सी, रति-श्रान्ता व्रज-वनिता-सी!

यह छायावाद-युग की भाषा का एक प्रतिनिधि उदाहरण है। इसका यह अर्थ नही कि सभी कवियो ने समस्त रचनाओं मे इसी असाधारण भाषा का प्रयोग किया है, पर जिन स्थलो पर भाषा मे बोलचाल के प्रयोगो का अधिक सन्निवेश है, वहाँ भी एक दूसरे प्रकार की असाधारणता अवश्य है—

> जागो फिर एक बार!
> प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
> अरुणा-बिंब तरुन-किरन खड़ी खोल रही द्वार।

इस पद्य में भाषा बोलचाल के अधिक निकट है, किन्तु अनुप्रासो की योजना मे इसमें भी असाधारणता आ गई है। समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण सौन्दर्य-भूमि पर स्थित है। प्रकृति और मानव-जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप तथा सौन्दर्य की भाँकी इस युग की कविता को कल्पना-विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। नारी-भावना का विकास इस युग में द्रुत गति से हुआ और नारी के अमांसल स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया। कल्पना-प्रधान कवियो ने समाज के इस तिरस्कृत अंग के प्रति हृदय की समग्र सहानुभूति बिखेर दी और नारीत्व को पुरुषत्व से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया। काव्य मे सामयिक स्थितियो की प्रतिक्रिया किस रूप मे प्रकट हुआ करती है, यह प्रायः कम ही समझा जाता है। दयानन्द-युग की बौद्धिकता की छाप तत्कालीन काव्य की चरित्र-सृष्टि पर किस प्रकार पड़ी, यह हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस युग की विचारधारा के परिणाम-स्वरूप कथात्मक चरित्र-सृष्टि मे कैसी बाधाएँ पड़ी, यह संकेत भी किया जा चुका है। छायावाद-युग मे देश की तत्कालीन स्वातन्त्र्य-चेतना का पूरा प्रभाव देखा जाता है। प्राचीन गौरव की अभिव्यक्ति तथा रहस्यात्मक दार्शनिकता इसी स्वातन्त्र्य और सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है।

काव्य-स्वरूप की दृष्टि से प्रगीत-पद्धति का विकास इस युग की विशेषता है। कामाभिव्यंजना का माध्यम प्रगीत कविता ही होती है और इस युग की सांस्कृतिक भाव-व्यंजना इसी माध्यम से हो सकी। नवीन चेतना का इतना प्रसार न था कि नवीन काव्य वस्तुन्मुखी रूप ग्रहण कर पाता, फिर भी 'कामायनी' काव्य मे नवीन वस्तुमत्ता का भी सन्निवेश किया गया है। जिस भाषा मे नवीन संस्कृति का निर्माण हो चुका था, उस

काव्य में नवीन वस्तु-व्यंजना कर सका है; किन्तु उपादान की कमी के कारण इस काव्य मे पर्याप्त वस्तु-विस्तार और ओजस्विता नही आ पायी।

राष्ट्रीय जागृति का वह प्रथम प्रहर था। नव-जागरण के सभी उपादान इस काव्य मे पाये जाते है, किन्तु भाषा और साहित्य का परिपूर्ण विकास इस काव्य में भी नहीं हो पाया। सामूहिक चेतना के अभाव में कवियों को अपनी व्यक्तिगत साधना का आधार लेना पड़ा और यही साधना प्रगीतात्मक काव्य-स्वरूप द्वारा व्यक्त हुई। प्राचीन रीति के त्याग की सूचना, नवीन युग के निर्माण की लगन तथा नवीन संस्कृति के जन्म का संकेत सौन्दर्य-भावना मे ओत-प्रोत इन मनोरम प्रगीतो से अवश्य प्राप्त होता है।

o o o

छायावाद काव्य-प्रवाह हिन्दी मे अब अपनी सुनिश्चित धारा बना चुका है। अब वह केवल विरोध की वस्तु नही है, और न केवल वाचिक अभ्यर्थना का विषय रह गया है। अब तो उस की सम्यक् समीक्षा और परीक्षा भी की जा सकती है। आरम्भ से ही अपनी छायात्मक निगूढ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था। पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी, किन्तु इसका यथार्थ स्वरूप अब तक स्पष्ट नही किया गया। छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निर्गुण निराकार व्यंजनाओं से भिन्न तो है ही, सूफियों की पद्धति से भी पृथक् है। उक्त दोनो परम्पराएँ प्रमुखतः आध्यात्मिक कही जा सकती हैं, यद्यपि सूफी कवियों ने लौकिक संस्कृति के निर्माण मे भी कम सहायता नही दी। आधिभौतिक पक्ष मे देखा जाए तो एक ओर उमर खैयाम और दूसरी ओर शेखसादी तथा भारत के जायसी आदि कवियों मे बहुत बड़ा दृष्टिभेद है। इन सभी कवियों ने सामयिक संस्कृति और देश-काल की विचार-धाराओं को भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए—उमरखैयाम की काव्य-धारा अदृष्ट, भाग्य या नियति के कठोर-चक्र से भयभीत होकर उसमें तटस्थ हो जाने का मानो आमन्त्रण करती है। उसका काव्य ईरान और फारस की एकान्त वाटिकाओं और उपवनों मे दो प्राणियों की प्रेम-परिचर्या का ही सरल आदर्श लेकर उपस्थित हुआ। सादी आदि की रचनाएँ उनसे भिन्न वातावरण और विचार-क्रम का द्योतन करती हैं। जायसी आदि भारतीय सूफियों की कविता न तो उमर खैयाम का-सा भाग्यवाद प्रवर्तित करती है और न दो प्राणियों के एकान्त जीवन और औपवनिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करती है, न वह अरबी सूफियों की तरह इस्लाम की छत्र-छाया में ही विकसित हुई है। व्यापक भारतीय जीवन और सौन्दर्य के अनेकानेक दृश्यों के बीच में होकर यह काव्य-धारा प्रवाहित हुई है। इस प्रकार देश, काल और विचार-क्रम मे भेद होते हुए भी सूफी काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक कहा जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य—निराकार प्रेम की अनुभूति—सब मे समान रूप से पाया जाता है। उसमें लौकिक, देश-काल-सापेक्ष और सांस्कृतिक पहलू प्रधान स्थान नहीं पा सके है, काव्य के [illegible] प्रेम—अलौकिक प्रेम—ने ही [illegible] है।

कबीर आदि ज्ञानमार्गियों की आध्यात्मिकता तो एकदम स्पष्ट है। रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और मिथ्या संसार की सुदृढ़ धारणा उनके अध्यात्म के परिचय स्वरूप

यह समझने की है कि कवि की काव्यानुभूति और उसकी रचना साहित्यिक समीक्षा में स्वतन्त्र मानी जाती है, किसी वाद के घेरे में वह घेरी नहीं जा सकती।

परन्तु यह एक प्रासंगिक बात हुई। नयी छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम २०वीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सफल प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्य-शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप, स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्ति-काव्य में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गयी थी, वहाँ छायावादी काव्य प्राकृतिक सौंदर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य की प्रकृति-निरपेक्षता और संसार-मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है, उसे अध्यात्म की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत्, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों को व्यापकता पूरा स्थान पा सकी। अध्यात्मवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित होते हुए भी मध्यकालीन भक्ति-काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य में कितना बड़ा दृष्टि-भेद है, यह अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टि-भेद के कारण दोनों युगों की काव्य-सृष्टि में जो महत्वपूर्ण अन्तर आ गया है, वह साहित्य के विद्यार्थी के अनुशीलन की वस्तु है।

मध्यकालीन अधिकांश काव्य, जो किसी धार्मिक या साधनात्मक प्रणाली के अन्तर्गत रचा गया, एक विशेष अर्थ में साम्प्रदायिक काव्य कहा जा सकता है। तुलसी की विनय-पत्रिका, सूरदास के विनय के पद, कबीर की साखियाँ, मीरा के भाव-गीत वास्तव में किसी सगुण या निर्गुण उपास्य के प्रति किये गये आत्मनिवेदन, स्तुतियाँ या रचनाएँ हैं। राम और सीता-सम्बन्धी चरित्र-काव्य में अथवा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है, क्योंकि वहाँ काव्य अपनी प्रकृत भाव-भूमि पर है और मनोवेगों का निरूपण नैसर्गिक पद्धति पर किया गया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसंग सर्वथा स्वाधीन हैं और इनका काव्य-सौन्दर्य चरित्र-काव्य या प्रगीत की सामान्य भूमि पर रख-कर परखा जा सकता है। समस्या यह हो जाती है कि भक्ति, उपासना या रहस्य-साधना के साम्प्रदायिक आग्रह प्रमुख बन बैठते हैं, और काव्य-भावना की वास्तविक परख नहीं हो पाती। आवश्यकता इस बात की है कि काव्येतर समस्त तत्व वाद और साधना-क्रम स्वतंत्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें; परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर उन सब-का पर्यवसान रचयिता की मन:स्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य

की भाव-पीठिका के अन्तर्गत हो जाना चाहिए । ऐसा न होने पर काव्य का वास्तविक आकलन अधूरा ही रह जाएगा।

दूसरे शब्दों में हमारा निवेदन यह है कि मध्यकालीन काव्य की समस्त साम्प्रदायिक और साधनात्मक प्रेरणाओं को नवीन मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक प्रतिमानों में परिणत करना होगा । ऐसा करने पर ही उक्त काव्य की वास्तविक सीमा-रेखाएँ निर्धारित हो सकेंगी । नवीन मनोवैज्ञानिक की सहायता से यह कार्य अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा, क्योंकि साम्प्रदायिक साधनसरणियों का काम के अन्तर्गत प्रयोग करने में कवियों की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हाथ मानना ही पड़ेगा। 'सूर के श्याम' और 'मीरा के प्रभु', 'विद्यापति की राधा' और 'सूर की राधा' चरित के रूप मे तो भिन्न है ही, उनके निर्माण की मानसिक प्रेरणा भी एक नहीं है। इसी प्रकार कबीर की रहस्य-भावना उसी मानसिक स्तर पर नहीं है, जिस पर दूसरे निर्गुणियों की है। अतएव इस साहित्यिक निर्माण का कवियों की मानसिक स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है ।

इतना होने पर ही कवियों के काव्य की उपयुक्त भूमिका का निर्माण हो सकेगा और उस भूमिका पर रख-कर उनका काव्य-सौष्ठव परखा जा सकेगा। वर्तमान स्थिति में यह कार्य प्रायः भ्रामक पद्धति पर किया जाता है। पाठकों के धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग कर कुछ समीक्षक कृष्ण-काव्य को अब भी कला और भाव-समीक्षा का वास्तविक विषय नहीं बनने देते, और उनकी अनेकविध साम्प्रदायिक व्याख्याएँ करते रहते है । कुछ समीक्षक रहस्यवाद की काव्य-भूमि को ही स्वीकार नहीं करते, और कुछ इसके विपरीत, रहस्य-काव्य के दार्शनिक विवेचन मे ही सारा पांडित्य खर्च कर देते हैं। ये सभी समीक्षा-प्रकार साहित्यिक आकलन की दृष्टि से एकांगी और अधूरे हैं और साहित्यिक या कलात्मक विवेचना मे बाधा उपस्थित करते हैं।

जब तक इस नयी पद्धति पर काव्य-विवेचना की प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक मध्यकालीन काव्य का कलात्मक और सांस्कृतिक स्थान निर्धारित करना संभव नहीं होगा। साथ ही मध्य-युग की सामाजिक परिस्थितियों में उक्त काव्य की कितनी और किस प्रकार पैठ हुई तथा उससे सामाजिक कला-अभिरुचि किस सीमा तक जागृत हुई, और साम्प्रदायिकता कहाँ तक बढ़ी और विकसित हुई, इन प्रासंगिक प्रश्नों को भी इतिहास के आलोक में हल करना होगा । सारांश यह है कि इतिहास और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर उन कवियों की साम्प्रदायिक साधना-विधियों और दार्शनिक निरूपणों का उनकी जीवनी और मानसिक गतिविधियों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए काव्य की नवीन व्याख्या करनी होगी और इस प्रकार उन मध्यकालीन कवियों की काव्य-पीठिका का निर्माण करना होगा। इस पीठिका पर रख कर ही हम उनकी रचनाओं की साहित्यिक विशेषताओं को आँक सकेंगे। तभी हमारा साहित्यिक इतिहास वास्तविक साहित्य-भूमि पर स्थापित होगा और हम भिन्न-भिन्न साहित्यिक निर्माणों का यथार्थ स्वरूप समझ पाएँगे।

छायावाद-काव्य मध्य-युग की काव्य-धारा मे प्रमुखतः इस

वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। अध्यात्मवादी काव्य का 'अधिष्ठान देशकालातीत परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्ययशील सांसारिक आदर्शों और स्थितियों आदि से उसका मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह विकास, जो समय का आश्रित है, वह विज्ञान, जो व्यक्तद्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य के विषय नहीं है। प्रत्यक्ष वस्तु का मानवजीवन के सुख-दुःख, विकास-ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो सम्बन्ध है, वह काव्य उसकी उपेक्षा कर गया है, किन्तु आधुनिक छायावादी काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। अध्यात्मवादी परम्परा दृश्यमात्र को विनाशी कहकर चुप हो रहती है, अथवा उसे व्यावहारिक बता कर मुँह मोड लेती है। छायावादी काव्य में यह परम्परा स्वीकृत नहीं है। दैन्य से पीडित और प्रताडित तथा भोगैश्वर्य से प्रमत्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टिचक्र के विभेदों में अध्यात्मवाद नहीं आ सका। समय और समाज को आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन उसमें कम ही है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा सपृक्त है, जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, विश्वमय है या विश्वातीत, ये प्रश्न ही उस अध्यात्म में आते हैं, छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों में आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म-पद्धति को लेकर नहीं चलता। नवीन जीवन-प्रगति में ही उसने आत्मसौन्दर्य की झलक देखी है। परम्परित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है—एक चेतन-केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रों की सृष्टि करता है; किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन-सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्म के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर—दृश्य से भाव की ओर होती है। और दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।

प्रसादजी, जो छायावादी काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रकृति की रमणीयता से आकृष्ट होकर उसके सौन्दर्य-प्रभावों को व्यक्त करते हैं। उनका प्रारम्भिक काव्य प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य की भूमि पर अधिष्ठित है। इस प्रकार सौन्दर्य-वस्तु का प्रभाव कवि के काव्य में एक हल्की रहस्यभावना की सृष्टि करता है। 'झरना' और 'आँसू' में यह सौन्दर्य-सत्ता क्रमशः विकसित होकर कवि की भावना में और भी गहराई लाती है और कवि प्रेम-तत्त्व के निरूपण में संलग्न दिखायी देता है। 'लहर' के गीतों में मानव-जीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन-तत्त्व के समन्वय का प्रयत्न है। 'कामायनी' काव्य में जीवन की अनुभूतियाँ अपनी व्यापकता में प्रदर्शित हैं और उन सबका समाहार कवि के जीवन-दर्शन, आनन्दवाद में किया गया है। प्रसादजी के काव्य के अभिनव भाव-विस्तार को देखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और साम्प्रदायिक अध्यात्म-काव्य बहुत कुछ सीमित और परतन्त्र प्रतीत होता है।

केवल एक प्रासंगिक उदाहरण लेकर देखना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। सूरदास का राधा-कृष्ण-सम्बन्धी शृंगारिक काव्य अपनी स्वाभाविक भाव-भूमि पर भी अत्यधिक विशद और आकर्षक है। वृन्दावन के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गोपियों के प्रेम का विकास एक आध्यात्मिक समारोह ही कहा जा सकता है, परन्तु एक सीमा तक ही यह सुन्दर पद्धति देखने को मिलती है। आगे चलकर गोपियों की मानलीला और कृष्ण-द्वारा मान-मोचन के प्रयत्नों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह अपनी प्रकृत भूमि पर वैसा भावनामय नहीं हो पाया। प्रत्येक गोपी के घर बारी-बारी से जाकर उनकी अभिलाषा-पूर्ति का प्रयत्न जैसा वह सूरदास के काव्य में चित्रित है, आध्यात्मिक रुढि के अनुकूल भले ही हो, काव्य की उदात्त भाव-व्यंजना में सहायक नहीं है। सम्भव है तत्कालीन काव्य-पद्धति में वैसे चित्रण अपवाद न माने जाते हों, पर आज के चित्रण—सभोग-शृंगार के वे दृश्य—सुरुचिपूर्ण नहीं कहे जा सकते। फिर भी मध्य-कालीन धार्मिक काव्य की परिधि में उनका निर्माण हुआ है और बहुत-से भक्त उन्हें गाकर आज भी अलौकिक आनन्द उपलब्ध करते हैं। उनका यह आनन्द उक्त प्रसंग की रहस्यवादी धारणा के कारण है, या उन दृश्यों के यथातथ्य चित्रण में ही उनकी भावना रमती है—यह तो वे ही बता सकते हैं। यहाँ हमें केवल इतना ही कहना है कि नवीन छायावादी काव्य-शैली में ऐसे चित्रणों के लिए, चाहे वे किसी वाद के अन्तर्गत हों, स्थान नहीं है।

सारांश यह कि हमारा नया काव्य अपनी स्वतन्त्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भाव-भूमि और अनुभूति-क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती काव्य से पृथक् सत्ता रखता है, जिसका यथार्थ परिचय हमें साहित्यिक विवेचन की इस स्वतन्त्र परिपाटी का अभ्यास करने पर ही प्राप्त हो सकता है, जिसका संकेत ऊपर दिया गया है। साहित्य-शैलियों का स्वतन्त्र और कलात्मक अनुशीलन आज की साहित्य-मीमांसा के लिए आवश्यक है। आज छाया-वादी काव्य-शैली की स्थानान्तरित करती हुई नयी शैलियाँ भी हिन्दी के क्षेत्र में अवतरित हो रही हैं। नये वादों का आगमन हो रहा है, नयी भाषा-शैली प्रतिष्ठित हो चली है।

छायावाद की साहित्य-शैली में एक नयी दिशा का आभास, महादेवीजी के काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्राप्त हुआ है। उनका काव्य पूर्णतः रहस्योन्मुखी और ऐकान्तिक है। छायावाद की सामान्य काव्य-शैली से उनकी पृथक्ता स्वीकार करनी होगी। इसके पश्चात् बच्चन जी का नया काव्यवाद हिन्दी के क्षेत्र में आया। इसी समय छायावादी काव्य-शैली के कतिपय अनुयायियों ने 'यथार्थवादी' काव्य-प्रयोग आरम्भ किये, जिनमें पतजी भी एक प्रमुख प्रयोक्ता थे। चित्रण-शैली और प्रेरणा-भूमि दोनों में पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इनमें पर्याप्त अन्तर दिखायी दिया।

नया काव्य-प्रवर्तन आरम्भ हो चुका है; परन्तु शैली के रूप में उसकी नूतन प्रतिष्ठा होने में कुछ समय लगेगा। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में नयी विचारणा, नयी चिन्तन-पद्धति और नवीन जीवन-दृष्टि ही नहीं है, नयी कला-शैली की भी सत्ता है। स्वभावतः यह नवीन निर्माण कल्पना-प्रधान छायावादी काव्य-निर्माण की अपेक्षा

अधिक 'यथार्थ' चित्रण-शैली का उपयोग कर रहा है, पर शैली का यह 'यथार्थ' अपने अन्तर्गत कितनी विभिन्न और दूरवर्ती भावना सरणियों को आत्मसात् कर सकेगा, यह तो नवीन सांस्कृतिक विकास और भविष्य की सामाजिक प्रगति पर ही अवलंबित है।

क्रांति, शक्ति और सीमा

रामधारीसिंह दिनकर

द्विवेदी-युग की कविता अपेक्षाकृत नीरस और रुक्ष है। इसका एक कारण तो यह है कि इस युग में भाषा तैयार नहीं थी, अतएव, कविगण उसकी सम्भावनाओं का यथेष्ट लाभ नहीं उठा सके। दूसरे, द्विवेदी-काल को हम रीतिकाल के विरुद्ध उठी हुई प्रतिक्रिया का भी काल कह सकते हैं। चूँकि रीतिकाल के कवियों ने नारी के कामिनी-रूप पर अत्यधिक दृष्टि गड़ायी थी, इसलिए, द्विवेदी-युग के कवि नारी के कामिनी-रूप से भाग चले। द्विवेदी-युग के कवियों में हम काम-भावना को दमित देखते हैं। नर और नारी के भीतर जो पारस्परिक आकर्षण का तार है, कैसे कहा जाए कि वह तार द्विवेदी-युग में टूट गया था? किन्तु, इस विषय में द्विवेदी-युगीन कवि अत्यन्त सावधान, बल्कि, चौकन्ने मालूम होते हैं, मानो, हर समय वे सोच रहे हों कि स्वामी दयानन्द पास ही खड़े सब कुछ देख रहे हैं। इस संयम का परिणाम यह हुआ कि इस काल की रचनाओं में जो नारियाँ चित्रित की गयी, वे या तो सती-साध्वी देवियाँ हैं अथवा वीर क्षत्राणियाँ जो अपनी निर्भीकता और तेज से नारी-जगत् में नूतन प्रेरणा भरती हैं। नारी का जो कामिनी-रूप है, वह इस काल में जान-बूझकर उपेक्षित छोड़ दिया गया। किन्तु इसे मैं सन्यास नहीं, गार्हस्थ्य का लक्षण मानता हूँ। गृहस्थ के घर में केवल पत्नी ही नहीं होती, माँ, चाची, बहन और बेटियाँ भी होती हैं। और इन सब के सामने बोलते हुए हम कभी भी ऐसी बातें नहीं बोलते जो एकान्त-कक्ष में बोली जाने के योग्य हैं। द्विवेदी-युगीन कवियों ने एकान्त-कक्ष की वार्ता को साहित्य में लाने से इन्कार कर दिया। इसे कवि की दुर्बलता कहें तो कह सकते हैं, किन्तु,यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक बातों में पुरुष का इस प्रकार लज्जित होना उसके पौरुष का शृंगार है।

शील की दृष्टि से द्विवेदी-युगीन कवियों का चरित्र अत्यन्त प्रशंसनीय है। किन्तु इस शील की अनिवार्यता के कारण कविता के साथ एक अन्याय हो गया। सारी कलाएँ नारी के कामिनी-रूप के इर्द-गिर्द चक्कर काटती आयी हैं और नारी की भाँवरी भरने का मोह वे आज भी नहीं छोड़ सकी हैं। कलाओं में, जो एक प्रकार की स्त्रैण कोमलता होती है वह, कदाचित्, इसी नारी-आराधना की देन है। द्विवेदी-युगीन कविता इस कोमल आकर्षण से वंचित हो गयी। किन्तु इससे भी एक और बड़ी बात है जिसके कारण इस युग की कविता में कवित्व की मात्रा क्षीण दीखती है। नारी के कामिनी-रूप को छोड़ कर कवि जब उसके सती-साध्वी अथवा वीर-रूप की पूजा में लगे, तभी अदन्यत्र

रूप से उन्होंने मान लिया कि रीतिकालीन कविता के समान निरुपयोगी काव्य कोई काव्य नहीं है, श्रेष्ठ काव्य वह है जिसका कोई न कोई सामाजिक उपयोग हो, जो जीवन में दुख को कम और पाप को ह्रास देता हो। अर्थात् द्विवेदी-युगीन कवि कला को प्रचार का पर्याय मानने वाले निकले।

किन्तु, रसिक लोग कविता को प्रचार नहीं मानते। वे कविता के समीप जाते हैं इसलिए हैं कि कविता उन्हें आनन्द देती है, उनकी शिराओं को झंकृत करती है, उन्हें परिचित विश्व से निकालकर अपरिचित लोक में ले जाती है तथा क्षण-भर को दुनिया से मुक्त करके उन्हें परियों और देवताओं के देश में पहुँचा देती है। और यही वह काम था जिसे करने में द्विवेदी-युगीन कविता अक्षम और असमर्थ रही। अतएव, रसिकों ने माँग की कि कविता स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म रूप धारण करे तथा उड़ने में वह इतनी समर्थ हो कि उसके साथ पाठक भी कल्पना-लोक में विचरण कर सकें।

द्विवेदी-युग के बाद, हिन्दी में छायावाद नाम से जो आन्दोलन उठा, वह, मुख्यतः, द्विवेदी-युगीन काव्य की कल्पनाहीनता के विरुद्ध विद्रोह था। किन्तु, उसके और भी पहलू थे। मेरा अनुमान है कि छायावाद के समान कोई आन्दोलन रीतिकाल के अन्तिम चरणों में ही समय के गर्भ में आ चुका था। साहित्य में कोई धारा बहुत दिनों तक नहीं ठहरती। कारण, एक शैली के बहुत काल तक प्रचलित रहने से अभिव्यक्ति में एकरसता आ जाती है, एक ही प्रकार के शब्द बराबर प्रयुक्त होने से अपना जादू खो बैठते हैं और लीक इतनी पिटी-पिटायी और परिचित हो जाती है कि उस पर चलने वाला कोई भी कवि इस विश्वास से नहीं बोल पाता कि वह कोई नई बात बोल रहा है। रीतिकाल की दुहराहट से उसी काल के अन्तिम चरण के कवि अधीर हो उठे थे और तभी बोधा और घनानन्द ने सवैयों के ही भीतर से कुछ ऐसे स्वर निकाले जो रीतिकाल के लिए बिल्कुल नवीन लगते हैं। यह लक्षण कहीं-कहीं भारतेन्दु में भी मिलता है। जब वे कहते हैं 'स्रवनन पूरो होय मधुर सुर अजन ह्वै दोउ नैन' तब वे अपनी रीति की रूढ़ि को भूलकर एक नयी शैली का संकेत देते हैं। ऐसा लगता है कि यदि हिन्दी-कविता की भाषा ब्रजभाषा से बदल कर खड़ीबोली न हो गयी होती तो छायावाद के समान कोई रोमांटिक आन्दोलन ब्रजभाषा में ही आया होता और हिन्दी-कविता उन गुणों को प्रचुर मात्रा में उपस्थित करती जो बोधा, घनानन्द और भारतेन्दु में संकेतित हुए थे।

किन्तु, रीतियुग के अन्तिम कवियों का यह संकेत, ब्रजभाषा के हटने पर बिल्कुल अवरुद्ध भी नहीं हुआ। जब खड़ीबोली कविता की भाषा बन गयी तब भी यह संकेत कविता के भीतर पलता रहा जिसके प्रमाण, पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, (श्यामा-स्वप्न के लेखक), मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय की कुछ पंक्तियाँ हैं। किन्तु, अनेक कारणों से ठीक इसी समय हिन्दी-कविता के क्षेत्र में क्रान्ति घटित हो गयी जिसके परिणामस्वरूप कविता की शैली और रूप दोनों परिवर्तित हो गए और इस आमूलता के साथ परिवर्तित हो गये कि इस आन्दोलन में लोगों ने प्रारम्भिक भाग लिया।

किन्तु, क्या छायावादी आन्दोलन आकस्मिक था? छायावाद के उदय के

ने अपने निबन्धों तथा भूमिकाओं में बराबर यह बात कही है कि छायावाद के मूल भावों का सम्बन्ध उपनिषदों के भावों से है। जब यह आन्दोलन जीवित था तब अनेक बार छायावादियों ने कबीर, मीरा, रसखान, घनानन्द और बोधा का नाम लेकर यह दिखाने का प्रयास किया था कि यह आन्दोलन हिन्दी-कविता की शृंखला के साथ है। किन्तु सब कुछ होने पर भी जनता का भ्रम बना ही रहा कि यदि बँगला में रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि न हुई होती तो हिन्दी में यह नया आन्दोलन नहीं आता।

हिन्दी का छायावादी आन्दोलन रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि से प्रेरित था या हिन्दी-कविता का स्वाभाविक विकास, इस गुत्थी को सुलझाना आसान नहीं है। परिवर्तन जब मन्द-मन्द चलता है तब वह केवल परिवर्तन कहलाता है, किन्तु, जब उसकी गति बहुत तीव्र हो जाती है तब उसे क्रान्ति कहते हैं। घनानन्द, बोधा, भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी में परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र नहीं थी। तीव्र वह तब हो गयी जब प्रसादजी ने 'प्रेमपथिक' की रचना की और माखनलालजी की आरम्भिक कविताएँ प्रकाश में आने लगीं। किन्तु, इन दो कवियों पर रवीन्द्रनाथ का कोई भी प्रभाव नहीं है। अतएव, यह स्थापना ठीक नहीं दीखती कि हिन्दी का छायावादी आन्दोलन रवीन्द्र की प्रेरणा से आया था। किन्तु, छायावाद के अन्य दो अग्रणी कवियों, निराला और पन्त, पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव स्पष्ट मिलते हैं, यद्यपि, महादेवी वर्मा फिर इस प्रभाव के क्षेत्र से बाहर चली जाती हैं। मिला-जुलाकर, यह कहना अधिक युक्तियुक्त लगता है कि नये आन्दोलन की तैयारी हिन्दी-कविता के भीतर आप-से-आप हो रही थी तथा प्रसादजी और माखनलालजी की रचनाओं तक वह हिन्दी की पूर्वागत धारा के समीप थी। हाँ, जब निराला और पन्त आये, उनके साथ कुछ रावीन्द्रिक प्रभाव भी हिन्दी-कविता में सम्मिलित हो गया।

यह भी विचारणीय है कि यद्यपि, सांस्कृतिक नवोत्थान की गूँज हिन्दी-प्रान्तों में स्वामी दयानन्द के समय से ही फैल रही थी, किन्तु अंग्रेजी-शिक्षा का परिपाक हिन्दी-प्रान्तों में बीसवीं सदी में ही सम्भव हुआ। शिक्षा की दृष्टि से हिन्दी-प्रान्त बंगाल, मद्रास और बम्बई से पीछे रहे थे। इसके सिवा, हिन्दी-प्रान्तों में नवोत्थान के नेता के रूप में सबसे पहले स्वामी दयानन्द आये, जिनका उद्देश्य यूरोप का अवरोध और पौराणिक हिन्दुत्व एवं ईसाइयत और इस्लाम, सबका विरोध था। स्मरण रहे कि पौराणिक हिन्दुत्व धर्म की कवित्वपूर्ण व्याख्या है एवं ईसाइयत और इस्लाम में भी जो भक्ति और रहस्यवाद के तत्त्व हैं वे कवित्व को प्रेरित करने वाले हैं। किन्तु, जब हिन्दी-प्रान्त स्वामीजी के उपदेशों के प्रभाव में आये तब साहित्य के अतीन्द्रिय संस्कार, जो कल्पना को विचरण का अवकाश देते हैं, दबने लगे। स्वामीजी के उपदेशों का काव्यमय रूप पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' की रचनाओं में प्रकट हुआ। किन्तु, सनातनधर्मावलम्बी श्री मैथिलीशरण गुप्त भी स्वामीजी के उपदेशों के संस्कारगत प्रभावों से न बच सके। 'साकेत' के राम स्वामी दयानन्द के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हैं और गुप्तजी का अधिकांश साहित्य उन नियमों को ध्यान में रखकर विरचित लगता है जिनका उपदेश स्वामी दयानन्द ने दिया था। इसके विपरीत, बंगाल में नवोत्थान का रूप ब्रह्म-समाज या हिन्दू के भीतर ईसाई

भक्ति और हिन्दू वेदान्त, दोनों का मिश्रण हुआ था। साथ ही, ब्रह्म-समाज यूरोपीय संस्कारों का अवरोध न करके उन्हें हिन्दुत्व में पचाना चाहता था। उसके भीतर भक्ति का गहरा पुट था और रहस्यवाद की प्रेरणा भी। कोई आश्चर्य नहीं कि उसके कवि रवीन्द्रनाथ हुए।

स्वामी जी द्वारा प्रवर्तित पवित्रतावादी आन्दोलन यदि समय पाकर शिथिल न हो गया होता तो हिन्दी में छायावादी आन्दोलन उस जोर से आता या नहीं, इसे सन्दिग्ध मानना चाहिए। किन्तु, शिथिल होने पर भी, छायावाद-काल में यह आन्दोलन कभी भी इतना शिथिल न हुआ कि कविगण उसके आतंक को बिलकुल भूल जाएँ। यह बात छायावादी कवियों की नारी-भावना में झलकती है। रवीन्द्रनाथ में, फिर भी, कलाकारों का यह नैसर्गिक साहस विद्यमान था कि वे 'विजयिनी'-जैसी उच्छल शृंगार की कविता लिखें अथवा 'स्तन' शीर्षक देकर पद्यों की रचना कर दें। किन्तु, छायावादी कवि अपनी वासना की अभिव्यक्ति खुलकर नहीं कर सके। जिस भय से द्विवेदी-युग के कवि कामिनी नारी का ध्यान करने से घबराते थे, उसी भय के मारे छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले 'जुही की कली' अथवा 'विहगिनियों' का आश्रय लेकर अपने भावों का रेचन कर रहे। छायावाद-काल की नारी-भावना कुंठित-सी लगती है। यौन-वासना द्विवेदी-युग में दमित चली आ रही थी। छायावाद-काल में आकर वह फूटी तो अवश्य, किन्तु, इस प्रकार नहीं, जिसे हम स्वाभाविक कह सकें। छायावादियों की वासना उन्हें कुरेदती भी है और अपनी अधीनता में भी ले आती है, किन्तु, ये कवि बराबर यह कहते हैं कि हमारी वासना वासना भले ही हो, किन्तु, हमने उसे गंगा में नहला लिया है।

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी-कविता में जो नया आन्दोलन आया उसका परिचय देने के लिए छायावाद और रहस्यवाद, इन दो नामों का उल्लेख किया जाता है, किन्तु दो नामों की आवश्यकता, कदाचित् नहीं होनी चाहिए। यह आन्दोलन, रूप और स्वभाव में, अंग्रेजी के रोमांटिक आन्दोलन के समान था और रोमांटिक कविता में रहस्यवादी तत्त्व रहते ही आये हैं। कठिनाई यह है कि भारतीय भाषाओं में अब तक भी कोई ऐसा शब्द प्रचलित नहीं हो सका जो 'रोमांटिसिज्म' के पूरे अर्थ का द्योतन कर सके। छायावाद का लक्षण बताते हुए प्रसाद जी ने एक स्थान पर लिखा है कि 'मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है।' तथा 'ध्वनि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है।' किन्तु, ये उदाहरण तो संस्कृत-अलंकारशास्त्र में ध्वनि का मर्म समझाने को प्रयुक्त हुए हैं। अतएव, इस व्याख्या से इतना ही स्पष्ट होता है कि छायावाद में ध्वनि की प्रधानता थी। इस सीमा को शायद प्रसाद जी भी जानते थे [illegible], इसीलिए उन्होंने स्पष्ट [illegible] यह भी कहा है कि 'व्यक्तिगत दर्शन से भिन्न अब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, जब हिन्दी में इस छायावाद के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, तब [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रेरित हुआ।' इस विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि छायावादी कवि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ही अभिव्यक्ति [illegible] [illegible]

था। इसके सिवा, छायावाद का एक लक्षण प्रसादजी ने उसकी वेदनाप्रियता को भी माना है।

किन्तु सही होते हुए भी, इन लक्षणों को मैं छायावाद के परिचय के लिए यथेष्ट नहीं मानता। वास्तव में, छायावाद की विशेषता ध्वनि और वेदनाप्रियता नहीं, प्रत्युत, भावुकता और कल्पना की ग्रतिशयता तथा परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण करने का मोह थी। ध्वनि तो सभी श्रेष्ठ कविताओं का गुण है और वेदना विरह-वर्णनों में भी प्रमुख रही है। इसी प्रकार, वस्तुओं की आन्तरिकता का स्पर्श किये बिना कोई भी श्रेष्ठ कविता नहीं लिखी जाती। ये लक्षण छायावाद पर घटित अवश्य होते हैं, किन्तु, इन्हें हम उसकी प्रमुख विशेषता नहीं मान सकते। अथवा यह कहना चाहिए कि वस्तुओं की आन्तरिकता में प्रविष्ट होने की छायावाद में जो उत्कट चाह थी उसी के फलस्वरूप उसका कल्पना-पक्ष अत्यन्त विकसित हो गया।

छायावादी या रोमांटिक मनोदशा तीव्र चेतना से उत्पन्न होती है और कल्पना की तीक्ष्णता के साथ उस मनोदशा का ऐसा मेल होता है कि अधिकांश रोमांटिक कवियों पर यह आक्षेप है कि वे सत्य से दूर भागते फिरते थे। रोमांटिक भावधारा का चरम विकास अँगरेज-कवि शेली में हुआ, किन्तु, शेली की ही कविताओं के उद्धरण देकर आलोचकों ने रोमांटिसिज्म के अवगुण भी दिखाये हैं। जो अव्यावहारिक है, जो अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख सकता, जिसका बुद्धि-पक्ष उसके भावुकता-पक्ष से दुर्बल और क्षीण है तथा जो सामान्य तर्क-बुद्धि का अनादर करके भावनाओं के प्रवाह में बह जाता है, उसे हिन्दी में लोग, एक समय, छायावादी कहा करते थे और अँगरेजी में भी यदि ऐसे व्यक्तियों को रोमांटिक कहा जाए, तो इस शब्द का बहुत गलत प्रयोग नहीं होगा। रोमांस का एक अर्थ प्रेम-लीला भी होता है, किन्तु, यहाँ भी, अधिक स्थलों पर, रोमांस त्याज्य गुण है। जो राजनीतिक परिणाम पर ध्यान दिए बिना जनता को अंधी क्रान्ति की ओर झोंकते हैं, साहित्य में उन्हें भी रोमांटिक कहने का रिवाज है। अर्थात् रोमांटिक विशेषण हम उस व्यक्ति के लिए रखते हैं, जो बुद्धि से अधिक भावना के अधीन होता है।

जीवन का रोमांटिक दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य अनिवार्य रूप से उन शक्तियों का आगार है, जिनसे नूतन सृष्टियाँ रची जाती हैं, अतएव, उसकी प्रत्येक इच्छा को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए। क्रान्तियों का जन्म मनुष्य के इसी आत्म-विश्वास से होता है, अतएव, सभी क्रान्तियाँ स्वभाव से रोमांटिक होती हैं। और इसीलिए, साहित्य का प्रत्येक रोमांटिक आन्दोलन, स्वयं वायवीयता में मग्न रहने पर भी, क्रान्तिकारी आन्दोलनों के प्रति सहानुभूतिशील रहता आया है। अँगरेजी के रोमांटिक कवि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के प्रति सहानुभूतिशील थे तथा हिन्दी के छायावादी कवि भी भारतवर्ष में क्रान्ति की तैयारी को बड़े ही उत्साह से देखते थे। बुद्धिवाद और रोमांटिसिज्म में भेद यह है कि बुद्धिवादी व्यक्ति की दृष्टि में वे बातें आती हैं, जो आवश्यक हैं और संभव भी, किन्तु रोमांटिक व्यक्ति आदर्शवादी होता है। वह संभावनाओं को देखकर नहीं चलता। जो बातें उसे अच्छी लगती हैं, अथवा जिन्हें वह वांछनीय समझता है, उनकी सम्भावना-असम्भावना पर विचार किये बिना ही वह उनका प्रचार करने लगता है। जीवन का जो

सुप्रतिष्ठ क्लासिक रूप है उसकी बौद्धिक एवं नैतिक सुरक्षा का भार बुद्धिवाद पर होता है। इसके विपरीत, रोमांटिक भावना विद्रोहिणी होती है और वह स्थापित समाज की आत्मरक्षापरक दकियानूस प्रवृत्तियों को तोड़कर नया समाज लाना चाहती है। जहाँ हो, वहाँ अड़े रहो, यह समाज के क्लासिक पक्ष का स्वभाव है। समाज को खींचकर आगे ले जाना, यह काम रोमांटिक नवयुवक करते हैं। इस संघर्ष में कुछ तो क्लासिक पक्ष की जकड़बन्दी दूर होती है और कुछ भावनावादियों पर बुद्धिवाद का प्रभाव पड़ता है। इसी तरह, समाज प्रगति करता है और इसी न्याय से साहित्य में भी प्रगति आती है। समाज को आगे बढ़ने की उत्तेजना रोमांटिक भावों से मिलती है, किन्तु, आगे बढ़ने में दुर्घटना का जो भय है, उसे बुद्धिवाद दूर करता है।

मनुष्य के भीतर दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। एक शक्ति वह है, जो हमें घृणा और क्रोध करने को उत्तेजित करती है, प्रेम और दया करने की प्रेरणा देती है। इसी शक्ति से सम्बन्धित वे भाव (साहित्य के स्थायी भाव) हैं, जिन्हें साहित्य और कलाएँ अपना आधार मानती हैं। किन्तु, इसी के साथ मनुष्य के भीतर एक दूसरी शक्ति भी है, जिससे हम सोचने और विचारने की योग्यता पाते हैं, जिससे हम यह निश्चय करते हैं कि कौन काम करने योग्य है और कौन नहीं, कौन बात बोलने के योग्य है और कौन नहीं। बहुत-से भाव मनुष्य में भी होते हैं और पशुओं में भी। किन्तु, मनुष्य पशुओं से इसलिए भिन्न है कि वह भावों का बुद्धि से नियंत्रण कर सकता है। जिसे हम बुद्धिवाद या रैशन-लिज़्म कहते हैं वह और कुछ नहीं, भावों को बुद्धिपूर्वक सम अवस्था में रखने का ही नाम है। और जिसे हम संस्कृति कहते हैं, वह भी भावों के नियंत्रण अथवा परिष्कार से उत्पन्न होती है। क्रोध करना प्रकृति है, किन्तु उसे वश में रखना संस्कृति का द्योतक है। काम की प्रेरणा प्रकृति है, किन्तु, बुद्धिपूर्वक उसे मर्यादा में रखना संस्कृति का लक्षण है।

इस बड़ी पृष्ठभूमि पर रखकर देखने से रोमांटिक भावदशा की दुर्बलताएँ कुछ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं और अब यह भी समझ में आने लगता है कि सभ्यता की प्रगति के साथ ऐसी भावुक मुद्रा का अनादर क्यों बढ़ता जा रहा है और क्यों आज के चिन्तक तथा समीक्षाकार रोमांटिक मूल्यों को प्रोत्साहित करने के पक्ष में नहीं हैं। सभ्यता का कल्याण इस बात में है कि मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में सन्तुलित रहने का प्रयास करे। किन्तु, छायावाद या रोमांटिसिज़्म सन्तुलन की स्थिति में कम रह पाता है। उत्साह की बात आने पर रोमांटिक कवि अभी वीरता अथवा अभी शान्ति पर पहुँच जाता है तथा पराजयों की मनोदशा में वह निराशा को सौंदर्यपूर्ण, आँसू को श्रेष्ठ सर्वस्व और मृत्यु को माता उद्धारक मान लेता है।

साहित्य में भावुकता के इस अतिशय्य से भी दुष्परिणाम निकले हैं। उदाहरणार्थ, स्वच्छन्द भावुक कवि अपने वर्ण्य और विषय पर पूरा अधिकार नहीं रख सकता, न उसे यही ध्यान रहता है कि जो कुछ वह लिख रहा है वह कितने लोगों की अनुभूति से मेल खाएगा। साधारणीकरण की प्रक्रिया भी कवि की साधना का बड़ा अंश है, किन्तु कितने ही भावुक कवि इस साधना में केवल इसलिए पराजित रह जाते हैं कि वे दूसरों की पहुँच के भीतर आने को झुक नहीं सकते। भावुक व्यक्ति का एक दूसरा दोष यह होता है

कि वह अपना देवता आप बनना चाहता है और वैयक्तिकता के इस मोह में उसकी प्रतिभा केवल धुआँ उठाकर रह जाती है, उससे प्रकाश नहीं फूट पाता।

यूरोप की रोमांटिक कविताओं का मनोविज्ञान की दृष्टि से जो अध्ययन किया गया, उसका परिणाम अधिकांश रोमांटिक कवियों के विपरीत निकला है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अधिकांश रोमांटिक कवि स्नायविक दुर्बलता से पीड़ित (न्यूरोटिक) थे। उनमें प्रतिभा अवश्य थी, किन्तु, प्रतिभा के उन्मेष में वे जिन विचारों अथवा भावों की अनुभूति प्राप्त करते थे, उसे ठीक से लिखने की धीरता या शक्ति उनमें नहीं थी। वे सृष्टि के रहस्यों के भीतर प्रवेश करके उनकी सम्यक् व्याख्या करने अथवा उन्हें ठीक से समझने में भी असमर्थ थे। यही कारण है कि दर्शन के धरातल का स्पर्श करते ही वे रहस्यवादी बन जाते थे, क्योंकि, इसी धूमिल पद्धति से वे अपनी दुर्बलताओं को छिपा सकते थे या अपने-आपको यह सन्तोष दे सकते थे कि सृष्टि के रहस्यों का साक्षात्कार उन्होंने कर लिया है। यौन-भावनाओं के सम्बन्ध में भी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इनमें से अधिकांश कवि अतृप्त-वासना से पीड़ित थे। किन्तु, अपनी पराजय को छिपाने के लिए उन्होंने प्लैटोनिक प्रेम का यह आदर्श ग्रहण कर लिया कि नारी की शोभा छूने नहीं, देखने की वस्तु है, भोग नहीं, पूजा की सामग्री है।

कविता की रोमांटिक पद्धति अनिवार्य रूप से खोखली होती है, ऐसा मनोवैज्ञानिक भी नहीं मानते, क्योंकि शेक्सपियर आदि की पद्धति भी बहुत दूर तक रोमांटिक थी, किन्तु, रोमांटिक होते हुए भी उन्होंने जो कहना चाहा, उसे ठीक से कह दिया है और सृष्टि के रहस्य जहाँ तक उनकी दृष्टि में आये, वहाँ तक उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी उन्होंने प्रभावोत्पादक ढंग से की है। और ये कार्य उन्होंने ठीक उसी सुस्पष्टता और निश्चिन्तता से किये हैं जैसे कोई भी वस्तुवादी कलाकार कर सकता था। रोमांटिक पद्धति दूषित वहाँ हो जाती है जहाँ कवि में रहस्यों के भीतर घुसने की शक्ति का अभाव होता है अथवा जहाँ कवि कथ्य विषय को अपनी पहुँच से परे देखकर (अधिकांश कवि तो यह भी नहीं जान पाते कि काव्य उनकी पहुँच से परे है या नहीं) बाहर-बाहर ही भावनाओं की घटा बाँध-कर कविता समाप्त कर देता है।

रोमांटिसिज्म कविता का सर्वाधिक काव्यात्मक तत्त्व है और कविता यदि विज्ञान का प्रतिलोम है तो रोमांटिक कविता विज्ञान का सबसे बड़ा प्रतिलोम समझी जानी चाहिए। रोमांटिसिज्म के स्पर्श से क्लासिक कवि भी पहले से कुछ बड़ा कवि हो जाता और संयमशील महाकवियों में तो रोमांटिक प्रवृत्तियाँ ऐसा चमत्कार उत्पन्न करती हैं जैसा कभी-कभी ही देखने में आता है। रवीन्द्रनाथ और गेटे रोमांटिक थे, किन्तु, संयमशील होने के कारण, इन कवियों ने रोमांटिसिज्म के दोषों को अपने पास फटकने तक न दिया। किन्तु शेक्सपियर, रवीन्द्रनाथ, गेटे और वर्डस्वर्थ, ये अपवाद ही अपवाद हैं। अपेक्षाकृत छोटे कवि तो रोमांटिक प्रवृत्तियों की अधीनता में जाते ही अतिरंजन के शिकार हो जाते हैं और जो उन्हें कहना है उसे छोड़कर वे ऐसी बातें बोलने लगते हैं, जिनका कथ्य-सूत्र से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए, ऐसा दीखता है कि अधिकांश

रोमांटिक कविताओं का सौन्दर्य, प्रतिभा के रंगीन धुएँ का सौन्दर्य है, उनके भीतर अंगारे नहीं हैं।

किन्तु, इतना होने पर भी भावुकता साहित्यकार का बहुत बड़ा गुण है, बल्कि, कहना चाहिए कि उचित मात्रा में इस गुण के बिना कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति में उत्साह नहीं जगता, दया, प्रेम और घृणा नहीं होती, वह और चाहे जो कुछ हो, कवि नहीं है। कवि मानवता का वह चेतन यन्त्र है, जिस पर प्रत्येक भावना अपनी तरंग उत्पन्न करती है, जैसे भूकम्प-मापक-यन्त्र में पृथ्वी के अंग में कहीं भी उठने वाली सिहरन अपने आप अंकित हो जाती है। सच पूछिए तो हम कवि उसी मात्रा में होते हैं, जिस मात्रा में हम भावुक होते हैं और कवि हम तभी तक रहते हैं जब तक भावुकता हममें शेष रहती है। और केवल कवि ही नहीं, पाठक भी सहृदय, भावुक या रसज्ञ होते हैं। साहित्य की सारी पूँजी भावों को लेकर है। यदि भावुकता का सरोवर सूख गया तो कवि और पाठक, दोनों साहित्य के लिए बेकार हैं। परन्तु, भावुकता भावुकता में भेद है। एक भावुकता वह है जो असंयमित होने के कारण सस्ती और अर्थहीन हो जाती है, जैसे उस व्यक्ति का रोना जिसे चींटी ने काटा हो, मगर, जो इस प्रकार रो रहा है, मानो, उसे साँप ने डस लिया हो, अथवा मुस्लिम-बंधुओं का यह क्रोध कि 'रिलीजस लीडर्स' किताब को लेकर दो देशों अथवा दो सम्प्रदायों के बीच युद्ध छिड़ जाना चाहिए। और वह भी भावुकता ही है जिसकी प्रेरणा से तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखा अथवा गांधीजी ने अपना जीवन अपने देश के लिए अर्पित कर दिया। भावुक केवल रोमांटिक कवि ही नहीं होते; भावुकता क्लासिक कवियों का गुण है, और क्लासिक कवि चूँकि, साधारणतः, संयमशील होता है, इसलिए, जब भी उसकी भावुकता संयम का बाँध तोड़कर जरा उभर जाती है तब भावुकता का यह उभार उस कवि को और भी आकर्षक बना देता है। इसी प्रकार, रोमांटिक कवि जब, आशा के विपरीत, भावुकता पर लगाम कसता है, तब वह भी पहले की अपेक्षा कुछ और भी गौरवपूर्ण हो जाता है। इलियट ने ठीक ही रोमांटिसिज्म और क्लासिसिज्म को साहित्य की राजनीति कहा है, क्योंकि प्रत्येक सफल रोमांटिक कवि (जैसे वर्ड्स्वर्थ) किसी न किसी मात्रा में क्लासिक भी होता है और प्रत्येक क्लासिक कवि (जैसे सूरदास, तुलसीदास आदि) अनेक बार रोमांटिक हो उठता है। सम-अवस्था अथवा मध्यम-मार्ग की जैसे सर्वत्र महिमा देखी जाती है, वैसे ही उसका साहित्य में भी महत्त्व है। निरी बुद्धि से कविता नहीं बनती, किन्तु, कोरी भावुकता भी कविता के लिए अपर्याप्त है। अनुभूति के समय भावुकता, किन्तु, रचना के समय बुद्धि का सहयोग, यही वह मार्ग है जिससे ऊँचे साहित्य का सृजन हो सकता है।

सुशृंखलता, सुसम्बद्धता, पूर्वापर-सम्बन्धों का निर्वाह, अभिव्यक्ति की स्वच्छता और सुस्पष्टता एवं कथन में अधीरता तथा अशान्ति का अभाव, ये क्लासिक शैली के लक्षण होते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी गुण ऐसा नहीं है जिसके आने से रोमांटिक कविता दूषित हो जाए। यह और बात है कि रोमांटिक कवि इनमें से अनेक गुणों का निर्वाह करने में असमर्थ रह जाता है।

बहुत-सी अन्य भाषाओं के रोमांटिक आन्दोलनों के समान, हिन्दी के छायावादी आन्दोलन में भी दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं। एक तो सृष्टि के रहस्यों को समझने की उत्सुकता या जिज्ञासा जो इस आन्दोलन का बौद्धिक पक्ष थी; दूसरी, ऊँची-से-ऊँची सुन्दरता को देखने की कामना या चाह जिससे छायावादी आन्दोलन का रागात्मक पक्ष विकसित हुआ। द्विवेदीयुगीन और रीतिकालीन कवि वस्तुओं के सतही रूप तक ही गए थे। छायावादियों की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रत्येक रचना में सतह से नीचे उतरने का प्रयास किया। और, चूंकि उन्होंने वस्तुओं के भीतर जाने की कोशिश की इसलिए, उन्हें ऐसी अनन्त सुन्दरताओं के दर्शन भी हुए जो हिन्दी के लिए अछूती थी छायावादियों में वस्तुओं को नये क्षितिजों में देखने की जो जिज्ञासा थी, चीजों के भीतर डूबकर उनके सूक्ष्म रहस्यों को समझने का जो कुतूहल और औत्सुक्य था उससे कल्पना को प्रसरित होने की प्रेरणा मिली और हिन्दी-कविता में, प्रायः विद्यापति, सूरदास और तुलसीदास के बाद, पहले-पहल, यह सिद्धान्त वेग से उभरा कि कल्पना की प्रचुरता के बिना कोई भी कविता नहीं लिखी जा सकती। और छायावादियों ने सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए जो अद्भुत प्रयास किया, उससे भी हिन्दी में पहले-पहल इस सिद्धान्त का संकेत मिला कि कविता का उद्देश्य ज्ञानदान अथवा समाज-सुधार नहीं, केवल सौन्दर्य की सृष्टि है।

सामने के आवरण को हटाकर उसके पीछे छिपे हुए सत्यों को जानने की उत्सुकता और कल्पना के सहारे भाँति-भाँति की सुन्दरताओं को देखने की चाह, ये दो बातें हिन्दी के छायावादी आन्दोलन की दो प्रमुख विशिष्टताएँ थीं। किन्तु, यह आन्दोलन केवल यहीं तक सीमित नहीं था। इसके और भी अनेक पहलू थे जिनका सम्यक् विवेचन एक छोटे-से निबन्ध में अशक्य है।

यह आन्दोलन किसी एक कारण का परिणाम नहीं था। द्विवेदी-युग को समीप देखकर हम आसानी से कह देते हैं कि छायावाद द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप आया था। किन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि छायावादी आन्दोलन का मूल इतना समीप नहीं था। मूलतः, यह भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था जिसका प्रवर्तन राजा राममोहन राय ने किया था जिसके व्याख्याता केशवचन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनीबेसेंट, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी हुए हैं। कविता का यह प्रयास उस नयी मानवता की अभिव्यक्ति का प्रयास था जिसका जन्म भारत-यूरोप-सम्पर्क से हुआ था और जो अँगरेजी-शिक्षा के कारण स्वाधीनता, उदारता, वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद विषयक यूरोपीय विचारधाराओं की सहज उत्तराधिकारिणी हो गयी थी। द्विवेदी-युग तक की हिन्दी-कविता उस भारतीय मानवता की कविता है जो यूरोप से परिचित नहीं थी अथवा यदि थी तो स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में वह यूरोप से बचने के प्रयास में थी। किन्तु, छायावाद की कविता उस भारतीय मनुष्य की कविता है जिसकी आत्मरक्षा की चिन्ता दूर हो गयी है और अब वह स्वेच्छया यूरोप के गुणों का प्रसन्नता से वरण कर रहा है। जब सांस्कृतिक नवोत्थान का समय आता है, जातियों के कुछ पुराने सत्य दुबारा जन्म लेते हैं। उन्नीसवीं

सदी के हिन्दू नवोत्थान के क्रम में भी वेदों और उपनिषदों के सत्यों ने दुबारा जन्म ग्रहण किया और नवोत्थान के नेताओं ने यह घोषणा की कि हम इन प्राचीन सत्यों को साथ रखते हुए यूरोप के उपयोगी ज्ञान का सत्कार करेंगे। हिन्दू-नवोत्थान का ध्येय प्राचीन भारत से नवीन यूरोप की एकता की साधना था और यह ध्येय छायावादी काव्य पर भी पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी की कविताओं की रीढ़ भारत के प्राचीन सत्यों की अनुभूति है। केवल अभिव्यक्ति की शैली उन्होंने यूरोप की अपनायी है। और यूरोपीय शैली को अपनाने में भी वे इतने भारतीय रहे हैं कि हम आसानी से उनकी शैली को भारतीय शैली का विकास कह सकते हैं।

वास्तव में, यूरोप से नये ज्ञान के आगमन के साथ भारत की चेतना में एक प्रकार का भूकम्प-सा आ गया और भारतीय मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ एक साथ जाग पड़ीं, अनेक प्रकार की सुन्दरताओं को देखने की कामना स्फुरित हो उठी, परिचित से निकलकर अपरिचित भूमि में विचरण करने का उत्साह उमड़ पड़ा और रूढ़ियों एवं शास्त्राज्ञाओं को तोड़कर भारतीय मानव पहले-पहल उन लोकों की ओर पाँव बढ़ाने लगा जिनकी ओर जाने की इजाजत नहीं थी। ये सारी जिज्ञासाएँ, ये सारी उमंगें और ये सारे उत्साह, जिनकी जड़ें उन्नीसवीं सदी के मध्य तक पहुँचती हैं, छायावाद को सम्भव बनाने के लिए शनैः-शनैः काम करती आ रही थीं और जब छायावाद का आविर्भाव हुआ, उसने अपने ढंग पर इन सारी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी।

छायावाद में रहस्यवादी तत्त्व कितना था, इस बात को लेकर कभी-कभी विचिकित्सा की जाती है। एक बात सत्य है कि छायावादियों में कोई भी कवि वैसा नहीं था, जैसे पहले के रहस्यवादी कवि कबीर, दादू, रैदास और मीरा या जायसी हुए थे, अर्थात्, छायावादियों में से किसी भी कवि का जीवन धर्म अथवा परोक्ष सत्ता से एकात्म होने के ध्येय पर अर्पित नहीं था। फिर भी, छायावाद के भीतर रहस्यवादी तत्त्व जब-तब काफी उभरा जिसका कारण यह है कि रोमांटिक भावधारा जब भी दर्शन के पास पहुँचती है, उसे दर्शन का रहस्यवादी पर्दा ही रुचिकर प्रतीत होता है। फिर भी, महादेवी को छोड़कर बाकी कवियों में रहस्यवाद का रूप परम्परा से बहुत भिन्न होकर आया है और, मुख्यतः, उसके दो रूप हैं। एक तो यह कि प्रकृति का जो रूप खुलकर बाहर आ गया है और हमारे चर्म-चक्षु के सम्मुख विद्यमान है, कवि अचरज की भाषा में उसकी व्याख्या करता है। दूसरा यह कि प्रकृति का जो रूप दृश्य के परे अगोचर और अदृष्ट है, उसके समक्ष कवि अगाध विस्मय से अभिभूत हो जाता है। विस्मय की इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों के लिए हिन्दी में सर्वात्मवादी अनुभूति, यह नाम चलता है। किन्तु, यह सर्वात्मवादी अनुभूति है क्या चीज? ...नो, छायावाद में जो बौद्धिक जिज्ञासा का भाव था, वह रहस्यवादी अनुभूति ...जिज्ञासा का पहलू है। कवि जानना चाहता है कि यह दृश्य जगत् कहाँ ...ग आँखों के सामने आ गया है, अथवा जो अदृश्य और अगोचर है, क्या रहस्य है। किन्तु, इस भेद को वह जान नहीं पाता। उसकी बुद्धि

प्रकृति के रूपों से टकराकर लौट आती है और परम्परा से उसने जो सुन रखा है, उसी बात को दुहराकर वह सन्तोष कर लेता है कि माया ब्रह्म का प्रसार है, कि हम जो कुछ काम कर रहे हैं, उसके भीतर और उसके परे कोई अज्ञात चेतन शक्ति व्याप्त है। किन्तु, ऐसी अनुभूतियों में नवीनता कहाँ है ? यदि विश्व की समस्त रहस्यात्मक अनुभूति को सामने रखकर सोचें तो कहना पड़ेगा कि छायावादी कवियों ने रहस्यवादी अनुभूतियों की लड़ी में एक भी नयी कड़ी नहीं जोड़ी। प्रशंसनीय वे इसलिए हैं कि अदृष्ट और अगोचर को समझने की उन्होंने चेष्टा की। और निन्दनीय वे इसलिए नहीं हैं कि इस चेष्टा में सफलता केवल साधकों को मिलती है, उन्हें नहीं जो परम ज्ञान का मूल्य चुकाने को तैयार नहीं हैं।

नकली रहस्यवादियों से मुझे भय लगता है, फिर भी, एक बात है जो नकली रहस्यवाद के भी पक्ष में पड़ती है। कवि योगी या रहस्यवादी हो या नहीं, किन्तु, आदर्शवादी होने के कारण वह विश्व की आधिभौतिक व्याख्याओं को स्वीकार नहीं कर सकता। यही असन्तोष उसे रहस्यवाद की ओर प्रेरित करता है और जब भी वह विश्व की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए प्रयास करता है, तब मनुष्य की वह प्रवृत्ति कुछ ऊपर आ जाती है जो युगों से विश्व-प्रपंच के आध्यात्मिक समाधान की खोज में है। ब्लेक, ए० ई० और वर्ड्सवर्थ भी योगी नहीं थे, और न इलियट। किन्तु, इनकी कविताओं के भीतर जहाँ भी अदृश्य वास्तविकता को छूने का प्रयास है, वहाँ मानवात्मा के उस आध्यात्मिक स्वरूप पर श्रद्धा होती है जो आधिभौतिकता के घमासान में भी जीवित और चेतन है।

सृष्टि के अन्दर जो गहन रहस्य हैं उनके भीतर दार्शनिक और कलाकार, दोनों, प्रवेश करते हैं और दार्शनिक का भी साधन यहाँ बुद्धि से अधिक सम्बुद्धि (इनट्यूशन) होती है जो, मुख्यतः, कला का साधन है। वस्तुओं के आन्तरिक रूपों को उभारकर ऊपर लाने में ही कला दृश्य और अदृश्य के बीच के प्राचीरों को भग्न करती है और इसी क्रम से वह सान्त में अनन्त की झाँकी दिखलाती है एवं बन्धन और मुक्ति के भेदों का नाश करती है। कला चेतन और अचेतन, दोनों के मिश्रण से उत्पन्न स्थिति का नाम है एवं वह प्रकृति और मानवात्मा के बीच सेतु का निर्माण करती है।

द्विवेदीयुगीन कविता अधिकतर दैनिक जीवन में आने वाले विषयों को लेकर लिखी गयी थी। दैनिक जीवन के विषय उपयोगी तो होते हैं, किन्तु, अति परिचय के कारण उनमें आकर्षण का अभाव होता है और जीवन की रुक्षता को भुलाने के बदले कवि और पाठक को वे उसकी और भी याद दिलाते हैं। छायावादी कवि अछूते सौन्दर्य और मादक नवीनता की खोज में थे, अतएव, वे दैनिक जीवन से भागकर परियों के देश में पहुँच गये। परियों के देश का निर्माण कवियों का प्रिय कार्य रहा है, प्रत्युत, यह कहना चाहिए कि परी-लोक की सफल रचना करने वाले कवि अन्यान्य विरोधों के साथ श्रेष्ठ कवि माने जाते रहे हैं। छायावाद चूँकि कविता का स्वच्छन्द काव्यात्मक आन्दोलन था, इसलिए, इस काल्पनिक जगत् की रचना करने में उसने भी

यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी। पन्त जी का 'लायी हूँ फूलों का हास' नामक गीत इस विषय की श्रेष्ठ रचना है और मेरा अनुमान है कि पन्तजी के और चाहे जो भी गीत मुरझा जाएं, उनके वे गीत और कविताएं मुरझाने वाली नहीं हैं, जिसमें स्वप्न, नक्षत्र, चन्द्रमा, प्रेम, अनग, लहर, नदी, विहंग आदि मनुष्य के सबसे प्यारे देवी-देवता बन कर आये हैं। छायावाद ने काव्य-सम्बन्धी जिस धारणा को सबसे अधिक पुष्ट किया वह यह मानी जाएगी कि कविता स्वप्न है, कविता परियों की कहानी है, कविता रहस्य की वाणी है, कविता परिचित विश्व से बहुत दूर निकल जाने वाले कवि की आवाज है तथा जो व्यक्ति कविता के स्पर्श मात्र से, स्वतः, यह नहीं समझ सकता कि कविता क्या है, उसे किसी प्रकार यह समझना कठिन है कि कविता अमूर्त वस्तु होती है।

छायावाद की रहस्य-भावना छायावादियों की बौद्धिक जिज्ञासा का परिणाम थी। किन्तु, उनकी इस बौद्धिक शक्ति का जितना परिचय छन्दों के नये विधान, शब्दों के नवीन चयन और भाषा के नूतन शृंगार में मिला उतना और कहीं नहीं। छायावाद-युग की सबसे बड़ी देन यह रही कि उसके यत्न-गृह में, एक समय कर्कश समझी जाने वाली, खड़ीबोली गल कर मोम हो गयी। कितने आश्चर्य की बात है कि पं० सुमित्रानन्दन पन्त को उत्तराधिकार तो श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की भाषा का मिला था, किन्तु, अपने लिए उन्होंने 'पल्लव' की भाषा तैयार कर ली। छायावाद-काल में भाषा ने जो रूप धारण किया, उसीका यह परिणाम हुआ कि खड़ीबोली में भी कविता कविता-सी लगने लगी। यह ठीक है कि पन्त और निराला ने कविता को जो भाषा प्रस्तुत की, वह, ठीक उसी रूप में आगे के कवियों को स्वीकृत नहीं हुई, किन्तु, मेरी या बच्चन की कविताओं की भाषा भी छायावादी युग के प्रयोगों से शिक्षा लेकर तैयार हुई है। और इस युग ने छन्दों में तो इतनी विविधता उत्पन्न की कि, सचमुच ही, हिन्दी-कविता की वीणा सहस्र तारोंवाली हो गयी।

छायावाद के दो अन्य लक्षण भी उल्लेखनीय हैं। एक तो अतीत की ओर आकर्षित से देखने की प्रवृत्ति और दूसरा जीवन के सरल रूप पर लौट चलने का भाव। भारत में अतीत की ओर देखने का एक प्रबल कारण तो यह भी था कि यह जाति दासता के पाश में आबद्ध थी और वह अतीत-स्मरण के द्वारा अपने गौरव को जगा रही थी। किन्तु, इसके सिवा, छायावाद को अतीत की ओर देखने में एक प्रकार का सुख भी मिलता था, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध न था। रोमांटिक आन्दोलन का मूलाधार भावुकता है और भावुकता जब वर्तमान से असन्तुष्ट हो जाती है तब, स्वभावतः, वह अतीत की ओर आशा से दौड़ती है क्योंकि दूर के ढोल सुहावने होते हैं। और सरल जीवन पर लौट चलने का भाव भी यह बतलाता है कि कवियों को सभ्यता की बर्बरता से चोट लगी होगी। हाँ, सरल जीवन की महिमा भारत में सदैव प्रतिष्ठित रही थी। कुछ यह कारण भी हो सकता है कि रूसो, एमर्सन, थिरईन, वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज ने सरल जीवन के आदर्श को जो उत्थान दिया था, भारत भर में, उसका प्रभाव हमारे आदर्शों पर भी पड़ा।

कल्पना में प्रतिभा का जो आनन्द है वह किसी और काव्य का नहीं। काव्य के

अन्य रूपों में कुछ भूसे और छिलके भी होते हैं। किन्तु, प्रगीत का काम केवल बीज से चलता है और बीज का भी उसमें वही अंश प्रधान होता है जिसमें उत्पन्न करने की शक्ति है। प्रगीत-काव्य का निचुड़ा हुआ रस होता है और छायावाद, मुख्यत, प्रगीतों का आन्दोलन था। छायावाद-काल में हिन्दी के कुछ अद्भुत गीत लिखे गये जो हिन्दी के सभी गीतों में मिश्रित कर दिये जाएँ तब भी अपनी ज्योतिर्मयता के कारण वे अलग पहचान लिये जाएँगे। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि छायावादी प्रयोगों ने गीतों की विशाल भूमि का द्वार उन्मुक्त कर दिया। छायावाद के बाद हिन्दी मे जितने भी प्रकार की कविताएँ लिखी गयी हैं उनमें गीतों की संख्या सबसे विशाल है और इनमे से कितने ही गीत ऐसे है जो अपनी झंकार से हमारे पूरे जीवन को झंकृत कर देते हैं।

यह आन्दोलन विचित्र जादूगर बनकर आया था। जिधर को भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर का क्षितिज लाल हो गया। हिन्दी की राष्ट्रीय कविताएँ जो अब तक उपदेशों और प्रवचनों का नीरस भार ढोती आयी थीं, इसी काल में आकर अनुभूतियों के सच्चे आलोक से जगमगा उठीं और सीधे उपदेशों का आश्रय बनना छोड़कर उन्होंने अनुभूति के जोर से जनता का हृदय हिलाना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय कविताएँ भी प्रचार न होकर अनुभूतियों का जीवित कोष होती हैं, यह बात माखनलाल, 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं को देखकर अनायास स्पष्ट हो जाती है। छायावाद अपना काम बड़ी उमंगों के साथ कर रहा था, किन्तु, सुरक्षित जनता के बीच भी उसकी कविताओं का कोई विशेष प्रचार न था, हाँ, भावुक किशोर छात्र उन्हें अवश्य पढ़ते थे। ऐसे समय में छायावाद कालीन राष्ट्रीय कविताओं ने बड़ा काम किया, क्योंकि, मुख्यत, उन्हीं को लेकर जनता और समकालीन काव्य के बीच सम्बन्ध का तार अनुस्यूत रहा।

छायावाद के आगमन से पूर्व ही प्रसिद्ध होने वाले कवियों में एक मैथिलीशरण जी गुप्त ही ऐसे निकले जिन पर नये आन्दोलन का यत्किंचित् प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव से उनकी कविताओं में नया रंग दमकने लगा। 'द्वापर', 'यशोधरा,' 'साकेत' का नवम सर्ग और 'झंकार' के कुछ गीत उन्होंने छायावाद-युग में ही लिखे थे। उनके अनुज श्री सियारामशरणजी गुप्त ने भी छायावाद से प्रेरणा ग्रहण की तथा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने इस प्रेरणा की अभिव्यक्ति क्लासिक पद्धति से की। छायावाद-युगीन हिन्दी-कविताओं में श्री सियारामशरण की कविताओं का, किसी-न-किसी दिन, अद्भुत मूल्य आँका जाएगा, क्योंकि इस काल में वे एक ऐसे कवि हुए हैं जिसने प्रवाह में अपने को बहने नहीं दिया, जिसने भावुकता को दबाकर उससे अपनी क्लासिक शक्ति की वृद्धि की। क्लासिक उन्हें मैं इसलिए मानता हूँ कि उनकी शैली और भंगिमा में उद्वेग का कहीं नाम भी नहीं है।

छायावादी आन्दोलन ने हिन्दी में बड़ा काम किया, किन्तु, उसकी अपनी उपलब्धियों का भविष्य में क्या महत्त्व होने वाला है? जब यह आन्दोलन जीवित था, उसकी रचनाओं को पढ़ने की थोड़ी-बहुत उत्सुकता, सब में नहीं, तो छात्रों के एक अल्प भाग में अवश्य थी। किन्तु, पाठ्यक्रमों को बाद दे दें तो अब उन कविताओं को

पढ़ने की इच्छा बहुत कम दिखायी देती है। और वे बहुत कम लोग भी वे हैं जो काव्य विवेक से हिन्दी-कविताओं से परिचित होना चाहते हैं, इसलिए नहीं कि छायावादी कविताएँ उन्हें अपने आकर्षण से खींचती हैं। खड़ीबोली के कवियों में अब तक केवल श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ही हैं जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि जनता उन्हें पढ़ना चाहती है और यदि उनकी रचनाएँ पाठ्यक्रमों से निकाल भी दी जाएँ तो उनकी कितनी ही पुस्तकें जनता में, फिर भी चालू रहेंगी। किन्तु, यही बात 'कामायनी' के बारे में नहीं कही जा सकती। और तो और, जो छात्र 'कामायनी' पढ़कर कालेजों से निकल जाते हैं उन्हें भी अवकाश के समय 'कामायनी' उठाने की इच्छा नहीं होती। फिर भी, देश में यहाँ-वहाँ ऐसे मनीषी हैं जो 'कामायनी' को आनन्द के लिए पढ़ते हैं। किन्तु, उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है।

'नीहार' को, खैर, कभी पाठ्य-पुस्तक रही ही नहीं, न शौकिया उदीयमान कवियों को छोड़कर और कोई उसे पढ़ने जाता है। हाँ, जब हम छायावादी युग की कृतियों पर विचार करते हैं तब प्रत्येक बार 'राम की शक्ति-पूजा' हमारे सामने आती है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण छायावाद-युग की श्रेष्ठतम कृति के रूप में इस रचना का उल्लेख अत्यन्त समीचीन है। किन्तु छायावाद-युग में छायावाद के एक यशस्वी कवि द्वारा विरचित होने पर भी यह कविता छायावाद की कृति नहीं है। वह तो शुद्ध क्लासिक पद्धति की रचना है। इसी प्रकार, छायावाद-युगीन जो भी कविताएँ इस बात की सफल कृतियों के रूप में समादृत समझी जा रही हैं (जैसे पन्तजी का 'नौका-विहार', 'एक-तारा', 'अप्सरा', 'मौन निमन्त्रण', 'लायी हूँ फूलों का हास' आदि कविताएँ तथा महादेवीजी के 'नीरजा' के पद और निरालाजी की 'सरोज-स्मृति', 'मैं अकेला', 'शिवाजी का पत्र' आदि) वे ठीक वे ही रचनाएँ हैं जिनमें अभिव्यक्ति की स्वच्छता और सुस्पष्टता तथा पूर्वापर-सम्बन्धों का अच्छा निर्वाह है अर्थात् जिन कविताओं को लिखते समय कवि ने क्लासिक शक्ति का सहारा लिया था। उस समय भावुकता के अंधे तूफान में जो असंख्य कविताएँ लिखी गयी उनमें बहुत ही थोड़ी रचनाएँ आज जीवित कही जा सकती हैं और आशा यह है कि इन्हीं थोड़ी रचनाओं में से कुछ को काल सौ-दो सौ वर्ष आगे ले जाएगा। बौद्धिक दृष्टि से भारत अभी भी विश्व का पिछड़ा हुआ भाग है, किन्तु, इस देश में भी दिनोंदिन बौद्धिक शक्तियाँ विकास पर हैं तथा ज्यों-ज्यों हमारी बौद्धिकता में वृद्धि होती है, निरी भावुकता हँसी की वस्तु बनती जा रही है। यह ठीक है कि सम्बुद्धिवादियों की कल्पना के अनुसार, मानवता बुद्धि के धरातल से ऊपर उठकर किसी अन्य धरातल पर पाँव रखने वाली है। किन्तु, वह धरातल भावुकता या चेतना की सनसनाहट का धरातल नहीं होगा। बुद्धि से ऊपर उठने पर मनुष्य, कदाचित्, सम्बुद्धि के स्तर पर जाने वाला है और सम्बुद्धि का अर्थ बुद्धि की दुर्बलता नहीं, अपितु, उसकी अत्यन्त समाधिस्थ एवं केन्द्रित प्रक्रिया है।

जब प्रगतिवाद का आन्दोलन आरम्भ हुआ, आलोचकों ने छायावाद को पलायनवाद कहना आरम्भ किया और छायावाद को यह गाली उन्होंने इस सन्तोष के साथ दी, मानो, पलायनवादी कहने से बढ़कर साहित्यकार की और कोई निन्दा नहीं

हो सकती। और लोग भी, जिनकी आँखें अभी-अभी खुली थीं, और जो पूरे मन से प्रगतिवादी धारा के साथ थे, मन ही मन, इस आलोचना से प्रसन्न होते थे। किन्तु, आज मुझे स्पष्ट दिखायी देता है कि प्रगतिवादियों ने उस समय छायावाद की असली कमजोरी को नहीं समझा। पलायनवाद से केवल इतना ही सूचित होता है कि समाज के सामने जो समस्याएँ थीं, छायावादियों ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया और एकान्त में वे अपनी कल्पना के साथ सुहाग मनाते रहे। किन्तु, यह तो कविता का भाव-पक्ष है और कवि के लिए भावों की सूची निर्धारित करने का अधिकार दूसरों को क्या, स्वयं कवि को भी प्राप्त नहीं होता। कवि जिन संस्कारों में पल कर युवा होता है, जिस वातावरण में साँस लेकर बढ़ता है, वह वातावरण और वे संस्कार उसके भावों और सन्देशों का आप से आप निश्चयन कर देते हैं। प्रत्येक कवि अपनी भाव-दिशा और सन्देश को पूर्व-निर्धारित पाता है और वह प्रयास करने पर भी उनसे भाग नहीं सकता। कौन कवि किन भावों से प्रेरित होकर लिख रहा है, कला में इस प्रश्न का महत्त्व हमेशा गौण रहता आया है। मुख्य प्रश्न तो यही हो सकता है कि कवि के अन्दर जो भाव उठते हैं उन्हें वह पूरी सामर्थ्य के साथ लिख पाता है या नहीं। कवि में केवल प्रेरणा की गुदगुदी ही नहीं, उसे सम्यक् रूपेण चित्रित करने की शक्ति भी चाहिए। इनमें से पहला गुण भावुकता से उत्पन्न होता है, किन्तु दूसरे गुण का आधार बौद्धिक विदग्धता और साधनाओं द्वारा अर्जित कठोर शक्ति है। छायावाद की असली दुर्बलता इसी दूसरे पक्ष की दुर्बलता थी। छायावादी कवि अपनी प्रेरणा को ठीक से पहचानने में असमर्थ थे और इससे भी बड़ी असमर्थता उनकी यह थी कि अनुभूति और प्रेरणा का जो स्वरूप उनकी समझ में आता भी, उसे वे प्रभुत्व में लाकर पूरी विदग्धता से नहीं लिख सके।

बाह्य प्रभाव

देवेन्द्रनाथ शर्मा

आपने अमरवेलि देखी होगी। मेरी दृष्टि मे छायावाद हिन्दी-साहित्योद्यान की अमरवेलि है। अमरवेलि मूलविहीन होती है, छायावाद का भी ठोस धरती से कोई सम्बन्ध नही है, अमरवेलि पराश्रित होती है—उसका जीवन दूसरों से प्राप्त रस पर अवलम्बित है, छायावाद भी पराश्रित है, क्योंकि उसके आदर्शों के निर्माण में बहुत कुछ अंग्रेजी और बँगला साहित्यो का हाथ है। पराश्रित होने के कारण आवश्यक पोषण प्राप्त नही होने से अमरवेलि कृश एवं पांडु होती है, जीवन से विच्छिन्न, कल्पनाप्रसूत और अनिर्वैयक्तिक होने से छायावाद मे भी आवश्यक मासलता और पुष्टि का अभाव है; फिर अमरवेलि आँखों को कोमल और रमणीय लगती है, छायावाद भी कोमल है, सुन्दर है, आकर्षक है। हाँ, यह बात और है कि उसकी अतिशय कोमलता तथा सुन्दरता कभी-कभी 'करुणा की नव अँगड़ाई-सी' या 'मलयानिल की परिछाईं-सी' अनुभव की सीमा मे न आकर अप्रत्येय अथवा अग्राह्य हो जाय !

अमरवेलि से हमारा कोई कार्य भले ही सिद्ध न हो पर उसकी मृदुता नयनाभिरामता से कौन इन्कार करेगा ? छायावाद ने भी हमारे जीवन को गतिशील नहीं बनाया यह ठीक है, किन्तु उसमें सौन्दर्य की कमी नही रही। छायावाद के तत्कालीन जीवन की समस्या का निदान भी इसी उपमा मे निहित है।

ऊपर यह बात आयी है कि छायावाद के आदर्शों के निर्धारण में अंग्रेजी और बँगला का प्रभाव है। छायावाद पर पड़े हुए बाह्य प्रभाव को प्रायः तीन रूपों में बाँटा जा सकता है—(१) अंग्रेजी-साहित्य का सीधा प्रभाव, (२) अंग्रेजी-साहित्य का बँगला-साहित्य होकर प्रभाव, (३) बँगला-साहित्य का अपना प्रभाव। सुविधा के लिए दूसरे और तीसरे भेदों को एक साथ रखकर विचार किया जा सकता है, इसलिए कि अन्ततः दोनों बँगला ही के प्रभाव हैं। यहाँ पाश्चात्य साहित्य न कहकर स्पष्ट रूप से अंग्रेजी-साहित्य का नाम लिया गया है। बात यह है कि अन्य यूरोपीय साहित्यों—जैसे फ्रेंच, जर्मन आदि—के प्रभाव का प्रश्न भी उठ सकता था, किन्तु हमारे यहाँ उन साहित्यों के व्यापक और स्वतन्त्र पठन-पाठन का अवसर नहीं के बराबर रहा। अतः इतने से ही उनके प्रभाव की कल्पना न्याय्य नहीं होगी।

यह बाह्य प्रभाव हमें स्पष्ट ही वस्तु और रूप-विधान दोनों में ही देखने को मिलता है। यहाँ इतना कह देना अनुचित नहीं होगा कि छायावाद पर बँगला-साहित्य

का उतना प्रभाव नहीं जितना एक रवीन्द्र के व्यक्तित्व और कृतियों का है। यदि बंगाल में रवीन्द्र का उदय न हुआ होता तो सम्भवत: बँगला का प्रभाव नगण्य ही होता। और तब छायावाद का रूप कैसा होता यह भी कहना कठिन है। छायावाद के विकास के मूल में रवीन्द्र के व्यक्तित्व की सुदूरव्यापिनी छाया का काफी हाथ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्राय: कहा जाता है कि छायावाद पर अंग्रेजी के रोमान्टिक युग का बहुत बड़ा प्रभाव है। मेरे एक मित्र का तो यहाँ तक कहना है कि छायावाद रोमान्टिक भावधारा के हिन्दी-रूपान्तर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विचार से हम भले ही सहमत न हों, परन्तु छायावाद पर रोमान्टिक भावधारा का प्रभाव है, इससे तो शायद कोई इन्कार नहीं कर सकता। पर साथ ही समसामयिक अंग्रेजी-साहित्य ने भी छायावाद को प्रभावित किया है, इस पर अक्सर ध्यान नहीं दिया जाता।

रोमान्टिक युग के प्रभावों की समीक्षा के प्रसंग में एक प्रश्न स्वभावत: उठता है कि लगभग एक शताब्दी पहले के रोमान्टिक युग की विशेषताओं की आवृत्ति हिन्दी-साहित्य में १०० वर्ष बाद क्योंकर—किस प्रकार हो सकी? रोमान्टिक भावधारा अठारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण (सन् १७८० ई०) से आरम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के कुछ बाद (१८३२ ई०) तक आकर समाप्त हो गयी। इसके विपरीत छायावाद का आरम्भ १९१६ ई० के आसपास ठहरता है और उस पर रोमान्टिक युग के प्रभाव की बात कही जाती है। अत: यह जिज्ञासा सर्वथा स्वाभाविक है कि रोमान्टिक साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पड़ने क्यों नहीं पड़ा।

किसी नूतन कलात्मक आन्दोलन को स्थायित्व प्राप्त करने के पूर्व कई अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। पहले तो उसका जन्म होता है, पर इस अवस्था में उसे उग्र विरोध का सामना करना पड़ता है, क्योंकि रूढ़िप्रिय मानव भरसक और सहसा कोई परिवर्तन स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। जन्म के बाद समस्या उपस्थित होती है उस नवीन भावना के विकास और पुष्टि के साथ उसमें जनमन की अभिरुचि उत्पन्न करने की। यह प्रारम्भिक विरोध को दबाने का एक आवश्यक सोपान है, किन्तु है यह समय-सापेक्ष। किसी नवीन भावना को न तो तुरन्त व्यापक बनाया जा सकता है, न सहसा उसमें लोगों की अभिरुचि जगायी जा सकती है। यह कार्य धीरे-धीरे सम्भव है। अन्त में उसकी परिपूर्णता की कोटि आती है, जिसके बाद उसका स्थायी महत्त्व स्थापित हो जाता है। इस तरह उत्पत्ति से पूर्णता तक पहुँचकर स्थायित्व प्राप्त करने में समय लगता है। यह न तो एक दिन की बात है, न एक व्यक्ति के वश की। यह क्रम साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में होने वाले महान् आन्दोलनों और परिवर्तनों के लिए समान भाव से सत्य है। रोमान्टिक भावधारा भी इसका अपवाद नहीं थी। वह क्लासिकल साहित्य की प्रतिक्रिया और विरोध के रूप में उत्पन्न हुई थी। स्वभावत: उसे पुराणपंथियों से लोहा लेना पड़ा। स्थायित्व और मान्यता की श्रेणी में पहुँचने के पहले कुछ और समय अपेक्षित था जब तक अपने देश के साहित्य में ही वह पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं हो लेती तब तक एक दूर देश में जहाँ का साहित्य,

संस्कृति, सभ्यता, सर्वथा भिन्न हों, उसका महत्त्व कैसे स्वीकार किया जाता।

दूसरा कारण है कि रोमान्टिक भावधारा के अवसान के बाद भारत में अंग्रेजी-शिक्षा का आरम्भ हुआ। रोमान्टिक युग का अन्त होता है १८३२ ई० में और मेकाले की अंग्रेजी-शिक्षा की योजना आती है १८३३ ई० में। इसके पूर्व भारतीय अंग्रेजी-भाषा के ज्ञान से बिल्कुल कोरे थे, साहित्य की तो चर्चा ही व्यर्थ है। एक सर्वथा विदेशीय भाषा के प्रसार में भी समय की अपेक्षा थी। उसके प्रसार की गति का तो अनुमान एक इसी बात से लगाया जा सकता है कि आज लगभग सवा सौ वर्षों के बाद भी अंग्रेजी-साहित्य से परिचित लोगों की संख्या १० प्रतिशत के लगभग ही है। ऐसी दशा में वहाँ की साहित्यिक मान्यताओं से प्रभावित होकर उनका अपने साहित्य में समावेश समय-साध्य था, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

एक बात और। हिन्दी-साहित्य की भी अपनी परम्परा थी—अत्यन्त प्राचीन एवं बहुत ही दृढ़। भाव और भाषा की इस सुदीर्घ परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद कर एक विदेशी भावना के साथ एकाएक ग्रंथि-बन्धन कर लेना कठिन क्या, असम्भव था। पहला परिवर्तन भाषा के क्षेत्र में हुआ, भाषा ब्रज से खड़ीबोली हुई। फिर भाव के क्षेत्र में भी परिवर्तन शुरू हुआ, रीतिकाल के विशुद्ध शृंगार के बदले कविता में राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा हुई, जिसकी धारा आज भी प्रवहमान है। इस तरह के परिवर्तन होते-होते उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त हो गया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के सूत्रधार के रूप में—उसकी गतिविधि के एकमात्र निर्देशक के रूप में—आये। उनके आगमन ने एक ओर जहाँ साहित्य का बहुत हितसाधन किया, वहाँ, दूसरी ओर काव्य के क्षेत्र में रागात्मकता, माधुर्य और काल्पनिकता के स्थान पर घोर यथार्थता, शुष्कता और रूक्षता को प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में जो परिवर्तन हुए, वे सर्वथा क्रमिक और नैसर्गिक रूप में। उसमें दूसरे साहित्य की भावनाओं के प्रवेश का अवसर ही कहाँ था।

द्विवेदीजी का प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। वे खड़ीबोली-साहित्य के आचार्य थे। उनके द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक आदर्श मान्य बन चुके थे, यद्यपि उनके मान्य बनने का अर्थ था हृदयपक्ष की बहुत-कुछ उपेक्षा। कविता हृदय से अधिक मस्तिष्क की वस्तु बन गयी थी। ऐसी अरागात्मकता अधिक दिनों तक ग्राह्य नहीं हो सकती थी। उसके विरुद्ध परिवर्तन होना, वस्तुत: गुप्तजी, मुकुटधर पाडेय आदि की कविताओं में उसका आभास मिलने भी लगा था। इसी समय रवीन्द्र की नोबेल-पुरस्कार-प्राप्ति ने उन्हें सारे भारत की दृष्टि में 'हीरो' बना दिया—सारे देश का ध्यान उनकी ओर खिंच गया। एक पराधीन देश के लिए पश्चिम का सम्मान अकल्पनीय था। वे एकाएक कवियों, विशेषत: नवयुवकों, के आदर्श और प्रेरणा के उत्स बन गये। और जिन भाव-भंगी के बल पर उन्होंने पश्चिम का प्रशंसापत्र पाया था, वह यदि कवियों के लिए उप-जीव्य बन खड़ी हुई तो इसमें क्या आश्चर्य। उनका अनुसरण और अनुकरण कवित्व की कुशलता की पराकाष्ठा मान लिया गया। हिन्दी तो बँगला की सबसे समीप की पड़ोसिन थी ही। फिर क्या पूछना था! उनकी कविता में जिन उपकरणों—रहस्यवाद,

प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्य-प्रेम आदि—की प्रधानता थी, वे हिन्दी-कविता के विषय बनने लगे। रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए नयी वस्तु नहीं था, किन्तु उसकी शृंखला टूट चुकी थी, सत्रहवीं शताब्दी के बाद पूरे २०० वर्षों तक वह टूटी ही रही। आधुनिक साहित्य में रहस्यवाद के नाम से जिस धारा का आविर्भाव हुआ, वह निश्चय ही रवीन्द्र के रहस्यवाद से प्रेरित थी, और उस पर बँगला के साथ पश्चिम का भी मुलम्मा था। रवीन्द्र का काव्य रोमान्टिक भावधारा से प्रभावित था ही। और अंग्रेजी-साहित्य के अनुशीलन से रोमान्टिक कवियों से हिन्दी के कवियों का सीधा परिचय भी हुआ। इसलिए उनकी ओर इन कवियों का आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

रोमान्टिक युग की सौन्दर्यचेतना बहुत ही सूक्ष्म और परिमार्जित थी, इसमें सन्देह नहीं। क्लासिकल युग की रूढ़िवादिता, स्थूलता और प्रकृति-सम्बन्धी निर्जीवता की प्रतिक्रिया के रूप में रोमान्टिक भावना का उदय हुआ था। इस समय हिन्दी-साहित्य की भी लगभग वही अवस्था थी। रीतिकाल की सुदीर्घ परम्परा रूढ़िग्रस्त थी, उसका सौन्दर्यबोध नितान्त स्थूल, और प्रकृति-चित्रण सर्वथा निष्प्राण था। भारतेन्दु युग या द्विवेदी-युग में भी उस दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

इंग्लैंड की ही तरह यहाँ भी विज्ञान के प्रसार ने उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया, कल-कारखानों की वृद्धि हुई, और जनता देहातों से नगरों की ओर, जहाँ कल-कारखाने खड़े हुए, आकृष्ट हुई। नागरिक जीवन ने प्रकृति से सम्बन्ध तोड़-सा दिया। नगर के हड़हड़-खटखट, भीड़भाड़ में प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की रमणीयता कहाँ देखने को मिलती! स्वभावत: कवियों ने नागरिक जीवन की कृत्रिमता से बचने के लिए प्रकृति की शरण ली, और नगर की निर्जीवता में प्रकृति में सचेतनता के आरोप की प्रेरणा पायी, प्रकृति में सचेतनता का आरोप कर, उसे एक साथी मानकर, उसी की सहायता से जीवन की एकान्तता मिटानी चाही।

इस भाँति जिन कारणों से क्लासिकल युग के बाद रोमान्टिक युग आया था, वे करीब-करीब यहाँ भी वर्तमान थे, और उसकी सौन्दर्य-चेतना ने हिन्दी के नये कवियों को मुग्ध कर लिया।

रोमान्टिक भावधारा एक महान् आन्दोलन थी। उस पर विस्तृत प्रकाश डालना यहाँ सम्भव नहीं, पर इतना समझ रखना चाहिए कि उसके पीछे यूरोप की तात्कालिक व्यापक परिस्थितियों का और महान् विचारकों के चिन्तन का बल था। कान्ट और हीगल के दर्शनों तथा रूसो के विचारों ने उसकी नींव डाली। उस आन्दोलन के दो पक्ष थे—एक प्रकृति से सम्बद्ध और दूसरा मानव से। संक्षेप में रूसो के विचार ये थे—

'मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियाँ ही अच्छी हैं, क्योंकि वे स्वाभाविक हैं। यदि वह आज बुरा हो गया है तो इसलिए कि उसने शुद्ध प्रकृति को छोड़ तड़क-भड़क और कृत्रिमता का जीवन अपना लिया है। इस व्याधि से पिंड छुड़ाने के लिए फिर पर्वतों और हरे-भरे मैदानों की ओर लौटना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य ने शताब्दियों से जो सामाजिक दीवारें खड़ी की हैं, उन्हें ढाहना होगा, और उनके स्थान पर समाज का नये सिरे से निर्माण करना होगा। राजनीतिक संस्थाओं की सत्ता किसलिए है?

केवल इसलिए कि धनी गरीब को लूटें, जबर्दस्त कमजोर को सतावें। बल-प्रदर्शन ह
कारक है। प्रेम को छोड़कर कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं होनी चाहिए। बुद्धि एवं विवे
अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार से नये समाज का निर्माण सम्भव नहीं है।'

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि रूसो की इच्छा प्रकृति और समाज दोनों ह
परिवर्तन की थी। इसी परिवर्तन की भावना से रोमन्टिसिज्म का आविर्भाव हु
इसीलिए जहाँ एक ओर उसमें प्रकृति के लिए जबर्दस्त आकर्षण था, वहीं दूसरी
समाज को नये सिरे से निर्मित करने का आग्रह भी।

प्रकृति-सम्बन्धी और मानवीय, इन दो पक्षों में छायावाद ने प्रकृतिवाला पक्ष
ग्रहण किया, और मानवीय पक्ष की ओर से आँखें फेर ली। यह बात नहीं थी कि मानव
आदर्शों में उसने परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी या परिवर्तन उसे अभिमत न
था, बल्कि इस उलझन में वह पड़ा ही नहीं। सौन्दर्य-प्रेम से ही वह इतना अभिभूत र
कि मानव की अन्य समस्याओं की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश नहीं मिला। अ
यही छायावाद की सबसे बड़ी निर्बलता है। यदि वह मानव-जीवन को समीप से देख
या अपनाता, तो वह भी रोमान्टिसिज्म की तरह पूर्ण और सन्तुलित भावधारा के रूप
स्वीकृत होता, और न तो उस पर पलायन का अभियोग लगता, न उसमें अवसाद के स्व
होते, न तो वह धुँधला और अस्पष्ट होता, न इतना अल्पायु। छायावाद के अन्यतम स्त
पंत इसी की ओर इंगित करते हैं, जब वे कहते हैं कि 'छायावाद इसलिए नहीं रहा
उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य
रहकर अलंकृत संगीत बन गया था।' छायावाद की अपूर्णता का यही रहस्य है।

और स्वयं पंत में यह निर्बलता सबसे अधिक रही। वे तो प्रकृति के अतिरि
किसी दूसरी वस्तु पर दृष्टि ही नहीं डाल सके। 'गुञ्जन' में भी उनका प्रकृति-सम्बन्धी मो
'पल्लव' जैसा ही है, और यत्र-तत्र जीवन की जो चर्चा वहाँ मिलती है वह भी अपने मोह
से आगे नहीं बढ़ी है। मानवता के विस्तृत प्रांगण में वे वहाँ भी नहीं आ सके हैं
निराला ने कभी-कभी प्रकृति के बाहर झाँकने का प्रयास किया है। उनकी बुद्धि व
आरम्भ से ही बहुमुखी रही है। फिर भी, यदि अनुपात की दृष्टि से विचार किया
तो उनकी प्रकृति-परक कविताओं के सामने मानव-परक कविताएँ नगण्य हैं। 'वि
'भिक्षुक', 'दीन' आदि दो-चार कविताएँ ही इस अभाव की पूर्ति करती हैं। प्रसाद
भी लगभग यही दशा है, और महादेवी का तो क्षेत्र ही पृथक् है। छायावाद की एका
विचारणीय है। सच्चे स्वच्छन्दतावाद का अर्थ न तो जीवन से पलायन है और न
कल्पना की उड़ान। उसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का रहना अनिवार्य है, जिसके अभा
वह वस्तुतः अधूरा है। छायावादी कवियों की इस अपूर्णता का कारण सम्भवतः यह
कि उनमें अन्तःप्रेरणा की अपेक्षा अनुकरण का प्राधान्य है। दूसरों से भाव ग्रहण करना
प्रभावित होना बुरा नहीं है, पर कवि को जहाँ तक अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रहे। प
एवं अनुकरण करने का ढंग तो ध्यान में रखना ही होगा।

यहाँ रोमान्टिक भावधारा की उन कतिपय विशेषताओं की चर्चा आवश्यक
होगी, जिन्हें हम छायावाद में पाते हैं। जैसा पहले कहा गया है, रोमान्टिसिज्म एक व्याप

व्यापक आन्दोलन का परिणाम था और उसके सभी अंगों पर प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है, काव्य-सम्बन्धी कुछ आदर्शों का उल्लेख ही पर्याप्त होगा। रोमान्टिसिज्म की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं—(१) विस्मय-मिश्रित कौतूहल, (२) सौन्दर्य-प्रेम, यहाँ 'सौन्दर्य' का प्रयोग सीमित अर्थ में नहीं, बल्कि व्यापक अर्थ में समझना चाहिए, (३) सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभूति और (४) जीवन की सरलता के प्रति सहज-स्वाभाविक दृष्टिकोण। छायावाद में ये विशेषताएँ पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

विस्मयमिश्रित कौतूहल :

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?—पन्त

इन पंक्तियों से आरम्भ होकर सारी कविता कौतूहल और विस्मय की भावना से भरी है। पन्त की 'छाया', 'सोने का गान' आदि कविताओं में भी यही बात है। 'निमु' की कई पंक्तियाँ जिनका आरम्भ ऐसे होता है, इसी भाव की पुष्टि करती हैं—

कौन तुम अतुल, अरूप, अमान ?
अये अभिनव, अभिराम ?

निराला से भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। 'प्रपात के प्रति' शीर्षक कविता में वे प्रपात से पूछते हैं—

अंचल के चंचल क्षुद्र प्रपात ! मचलते हुए निकल आते हो,
उज्ज्वल ! घन-वन अंधकार के साथ, खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो ?

इसी प्रकार 'तरंगों के प्रति' कविता में तरंगों से कहते हैं—

किस अनंत का नीला अंचल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मंडलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में अम्बर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल
चंचल चरण बढ़ाती हो।
किससे मिलने जाती हो ?

यद्यपि उदाहरण देना व्यर्थ है। इन कविताओं में रोमान्टिसिज्म की सर्वाधिक विशेषताएँ एक ही देखने को मिलती हैं। ऊपर केवल विस्मय और कौतूहल को स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य प्रेम भी प्रायः सर्वत्र है। और सच तो यह है कि छायावाद वस्तुतः सौन्दर्य की कविता है। यदि उसमें सौन्दर्य अंश भी कुछ नहीं है। अचेतन प्रकृति में चेतना का आरोप भी इन कविताओं में स्पष्ट है ही।

'छाया' की इन पंक्तियों में सामान्य रूप से रहस्य की अनुभूति स्पष्ट दर्शनीय है—

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण !
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

पंत की 'मौन निमंत्रण', 'स्वप्न' आदि कविताओं में सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभूति की विशद विवृति देखने को मिलती है—

> न जाने कौन, अये द्युतिमान, जान मुझको अबोध, अज्ञान,
> सुझाते हो तुम पथ अनजान, फूंक देते छिद्रों में गान,
> अहे सुख-दुख के सहचर मौन! नहीं कह सकती तुम हो कौन!

निराला की 'सेवा', 'अंजलि' आदि अनेक रहस्यात्मक रचनाओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। 'अंजलि' में कवि बड़ी मार्मिकता से कहता है—

> बन्द तुम्हारा द्वार!
> मेरे सुहाग शृंगार!
> द्वार यह खोलो—
> सुनो भी मेरी करुण पुकार,
> जरा कुछ बोलो।

और यहाँ रहस्य-भावना, जैसा शुक्ल जी ने लिखा है, 'स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक नहीं। ऐसी रहस्य-भावना इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है।'

महादेवी का काव्य तो रहस्यमय है ही, और प्रसादजी में भी इसमें अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इस प्रकार रोमान्टिसिज्म की जिन विशेषताओं की ऊपर चर्चा की गयी है, वे अपने पूर्णरूप में छायावाद में वर्तमान हैं।

रोमान्टिक भावधारा से बहुत कुछ साम्य रहने पर भी उसमें और छायावाद में एक तात्त्विक अंतर है—जहाँ रोमान्टिक साहित्य में हमें पूर्ण उल्लास, आशावादिता और सप्राणता के दर्शन होते हैं वहाँ छायावाद में हम पाते हैं अवसाद, नैराश्य और निष्प्राणता। यह एक विचित्र विरोधाभास है, जिसका आलोचकों ने, भिन्न-भिन्न रूप में समाधान करने की चेष्टा की है।

कहा जाता है कि रोमान्टिक साहित्य में इंग्लैंड की उस समय की भावनाओं को वाणी मिली है जब वहाँ का जीवन व्यावसायिक उन्नति तथा राज्य-विस्तार से उत्पन्न वैभव और उल्लास से पूर्ण था। ऐसी दशा में साहित्य का आशावादी और स्फूर्तिसम्पन्न होना अनिवार्य था। इसके प्रतिकूल छायावाद एक ऐसे युग का साहित्य है, जिसमें घोर दारिद्र्य नैराश्य और दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। स्वभावतः उसमें अवसाद का स्वर तीव्र है। पर क्या भारतीय जीवन में छायायुग के १५-२० वर्ष ही दारिद्र्य और नैराश्य से पूर्ण रहे हैं? उसके आगे या पीछे कौन-सी सुख-समृद्धि थी? फिर भी यह दुःखातिरेक और कहीं देखने को नहीं मिलता जैसा छाया-युग में। परिस्थिति एक रहने पर भी न तो छायावाद के पहले के साहित्य में वह अवसाद है, न बाद के ही।

कुछ आलोचकों ने इस अवसाद या नैराश्य का समाधान असहयोग आन्दोलन की विफलता से करना चाहा है। उनके मत में उस राजनीतिक आन्दोलन की असफलता ने भारतीय जीवन को इतना नैराश्यमय बना दिया कि उसी की प्रतिध्वनि कविता में सुनायी

पड़ने लगी। पर मेरी दृष्टि में यह हेतु नहीं, हेत्वाभास है, और है शुद्ध ऐतिहासिक भ्रम। किन्तु खेद की बात है कि हिन्दी-आलोचना की अन्धानुसरण की प्रवृत्ति ने इस भ्रम को एक मान्य सिद्धान्त का रूप दे रखा है।

छायावाद का आरम्भ १९१९ के आसपास ही हो जाता है, और उसके जो भी गुण-दोष हैं वे इस समय के आसपास की रचनाओं में स्पष्टतः दीख पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, हम सुमित्रानन्दन पन्त की 'वीणा' में संगृहीत कविताओं को ले सकते हैं। लेखक के ही शब्दों में इस संग्रह में दो-एक को छोड़कर अधिकांश सब रचनाएँ सन् १९१८-१९ की लिखी हुई हैं। 'फिर भी सामान्यतः छायावाद की, और विशेषतः पन्तजी की, कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो इस संग्रह की कविताओं में वर्तमान न हो। भाव एवं भाषा की दृष्टि से 'पल्लव' 'वीणा' का परिष्कृत संस्करण-मात्र है, यद्यपि यह कथन पन्तजी को सम्भवतः रुचिकर न हो। 'पल्लव' में, उसकी वाङ्मय भूमिका को छोड़कर, एक भी नया प्रयोग, एक भी नयी विशेषता नहीं, जो 'वीणा' में अपना रूप नहीं प्रकट कर चुकी हो। मैं मौलिक विशेषता की बात कहता हूँ, भाव-भाषा के परिष्करण अथवा परिमार्जन की नहीं। समय की प्रगति के साथ भाव अथवा कला में परिमार्जन होना तो अनिवार्य है। छायावाद के बदनाम अवसाद के भी दर्शन 'वीणा' में अनेक स्थलों पर किए जा सकते हैं, जैसे—

(१) आज वेदने ! आ, तुझको भी
गा-गा कर जीवन दे दूँ—
हृदय खोल के रो-रो कर !

(२) तजकर वसन-विभूषण भार,
अश्रु-कणों का हार पहन कर
आज करूँगी मैं अभिसार।

(३) आँखों के अविरल-जल को
मत रोको, मन ! मत रोको !

फिर यह कहना कि १९२१ में होने वाले असहयोग-आन्दोलन की विफलता के कारण छायावाद में वेदना की बाढ़ आयी, कितना युक्तियुक्त है, यह दुहराने की आवश्यकता नहीं। इस तरह की उड़ान हिन्दी के ही आलोचक भर सकते हैं।

दूसरी बात यह कि असहयोग-आन्दोलन का प्रवर्तन गांधीजी के दो अटल सिद्धान्तों—सत्य और अहिंसा—पर आधारित था। गांधीजी का सत्य ईश्वर का प्रतिरूप है एवं अहिंसा अपराजेय शक्ति का प्रतीक। उस सत्य की पराजय और अहिंसा की विफलता स्वीकार करने का अर्थ है, मानव के लिए उस नैतिक आधार की आवश्यकता को अस्वीकार करना, जिसके अभाव में वह बर्बरता में पशुओं से भी दो कदम आगे रहेगा। १९२१ ई० का आन्दोलन इस अर्थ में असफल अवश्य था कि हमने उसी समय स्वतन्त्रता नहीं पा ली, किन्तु उसमें पराजय की भावना नहीं थी। उस असफलता ने हमें आगे की क्रान्तियों के लिए नयी प्रेरणा दी, नवीन बल दिया। इसका प्रमाण है १९३० का आन्दोलन, जो १९२१ के आन्दोलन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और प्रभावशाली

था। हमारा स्वतन्त्रता के युद्ध का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उत्तरोत्तर उनमें दृढ़ता, सबलता और व्यापकता आती गयी है, और उसका चरम उत्कर्ष हमें १९४२ की क्रान्ति में देखने को मिलता है, जिसमें अबोध बच्चों से लेकर बूढ़ों तक ने अद्भुतपूर्व निर्भीकता से इन्कलाब की आवाज बुलन्द की थी।

एक बात और। यदि सचमुच ही आन्दोलन की असफलता ने पराजय या नैराश्य की भावना को जन्म दिया होता, तो सबसे पहले आन्दोलन के सूत्रधार महात्मा गांधी को ही अपने विश्वास से डिग जाना चाहिए था, उन्हें उन साधनों को छोड़ देना चाहिए था, जिनके बल पर उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम का सूत्रपात किया था, किन्तु हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि इन साधनों में उनका विश्वास सर्वदा एवं सर्वथा अक्षुण्ण रहा है। और अन्ततः यदि हमने स्वाधीनता प्राप्त भी की है, तो इन्हीं साधनों से। हमारा स्वतंत्रता का प्रत्येक आन्दोलन पिछले की अपेक्षा अधिक उग्र और शक्तिशाली रहा है। तब निराशा और पराजय से वह शक्तिमत्ता कभी पायी जाती है। सामूहिक और सार्वजनिक आन्दोलन की असफलता से वैयक्तिक अवसाद का जन्म हो, यह भी एक अद्भुत तर्क है।

सब कहने पर भी यदि थोड़ी देर के लिए मान लें कि आन्दोलन की विफलता से ही नैराश्य का उदय हुआ, तो उसकी अभिव्यक्ति पहले उन कवियों की वाणी में होनी चाहिए जो आरम्भ से ही आन्दोलन के समर्थक या उसमें सक्रिय भाग लेने वाले थे, या उनकी वाणी में जो अखाड़े से अलग खड़े हो एक विचित्र तटस्थता और निरपेक्षता से तमाशा देखते रहे? माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की कविताओं में कहीं भी नैराश्य नहीं बल्कि दूना उत्साह है। लड़कर परास्त होने वालों के हृदय में उत्साह, और तमाशा देखने वालों के हृदय में नैराश्य, यह तो विचित्र कल्पना है!

मैं छायायुगीन अवसाद को, उसे वेदना, नैराश्य या जिस किसी शब्द से कहिए, सर्वथा वैयक्तिक विशेषता मानता हूँ। किसी अन्य कारण का उस पर आरोप गलत होगा। पर ऐसी स्थिति में प्रश्न उठ सकता है कि यह व्यक्तिगत विशेषता इतनी व्यापक कैसे हो गयी कि उसमें युग-धर्म का भ्रम हो गया? इसका एकमात्र कारण है व्यक्तिवाद की भावना का विकास, जिसकी चर्चा आगे की जायगी। बात यह है कि वेदना अथवा अवसाद छायावादी कवियों की ही विशेषता नहीं है। उसका आरम्भ तो उसी दिन से है, जिस दिन मानव का आविर्भाव हुआ। कविता की उत्पत्ति की जो कहानी भारतीय परम्परा में सुरक्षित है, उसी से यह स्पष्ट है कि आदि कवि के मुख से उनकी व्यक्तिगत वेदना ही छन्द में फूट पड़ी थी। कितनी प्रबल थी उस भावुक हृदय की आकुलता!

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

में जो एक करुण विकलता सुनायी पड़ती है, वह व्यक्तिगत मानसिक आघात की ही तो प्रतिक्रिया थी। कालिदास का 'मेघदूत' वेदना का ही तो गान है! 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में ही क्या उस वेदना या करुणा की कमी है? भवभूति की वेदना के सामने तो पत्थर भी रो देता, वज्र का भी हृदय फट जाता, 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति

वचस्य हृदयम्!' नाम गिनाना व्यर्थ है। सच तो यह है कि जिसके हृदय मे यह वेदना नही वह कवि होने का अधिकारी नही। फिर भी छायावाद के पहले के किसी भी कवि या किसी युग की कविता पर वेदनावादी होने का कलक नही लगा। क्या हम मान ले कि छायावादी कवियो की सवेदनशीलता पहले के कवियो की अपेक्षा अधिक गम्भीर है? शायद नही! फिर भी उनमें वेदना का इतना आपत्तिजनक आतिशय्य क्यों है? इसका एकमात्र उत्तर है उनकी घोर वैयक्तिकता, उनका सर्वथा आत्मकेन्द्रित हो जाना। जहाँ पहले के कवियो ने अपनी व्यष्टि को समष्टि मे विलीन कर, अपनी वेदना को दूसरों की वेदना मे मिलाकर देखा, वहाँ छायावादी कवियो ने अपनी वेदना को अपने मे देखा तो क्या देखा, सारे विश्व की वेदना को भी अपने मे ही प्रतिबिम्बित पाया, कारण कि उनके लिए उनका व्यक्तित्व ही ससार था। अपने सुख-दुख के अतिरिक्त और किसी के सुख-दुख का न तो उनके सामने अस्तित्व था, न महत्त्व। पहले के कवियो की दृष्टि सर्वथा वस्तु-निष्ठ थी, छायावादियों की अतिशय आत्मनिष्ठ। इसलिए जहाँ और कवियो ने अपनी वेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम दूसरो को बनाया वहाँ छायावादियो ने स्वय अपने को। इसी का परिणाम हुआ कि जहाँ इतर कवि दूसरों की सवेदनशीलता जागरित तथा सहानुभूति अर्जित कर सके, वहाँ छायावादी असफल रहे। यह विरोधाभास भले ही हो, पर है सत्य! अपने प्रति सहानुभूति जागरित कराने का एकमात्र उपाय है स्वय दूसरों के प्रति सहानुभूति दिखाना। छायावादी काव्य की उपेक्षा का यह भी एक प्रधान कारण है।

तात्पर्य यह कि छायावादियो की निराशा या वेदना सर्वथा वैयक्तिक है, और उसका उसी रूप में ग्रहण होना चाहिए। हाँ, व्यक्तिगत प्रकृति, रुचि, सयम आदि के कारण उसके चित्रण मे मात्रा का अन्तर अवश्य है, जैसे पत, प्रसाद या महादेवी की अपेक्षा निराला में इस वेदना की विवृति कम देखने को मिलती है। प० नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—'निरालाजी के काव्य मे करुण की अथवा शृगार की दुर्बल भावना-मूलक अभिव्यक्ति हमें नही मिलती। वे एक सचेत कलाकार हैं, इसलिए उनके काव्य मे असयम और अति कही नही है। उनमें एक अनोखी तटस्थता है, जो उन्हे काव्य की भावधारा के ऊपर अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने की क्षमता प्रदान करती है।'

प्रसादजी के 'आँसू' मे किसी ने परोक्ष सत्ता के वियोग का आरोप किया है, किसी ने अध्यात्म दिखाने की कोशिश की है, पर वस्तुत वह है 'कवि की आत्मपूर्ण आत्माभि-व्यक्ति।' कही-कही अप्रस्तुत अर्थ की योजना का अवकाश-मात्र मिल जाने से उसमे रहस्या-त्मकता ढूँढने लगना कोई महत्त्व नही रखता। 'आँसू' सब प्रकार से एक 'मानवीय विरह-काव्य' है, जिसमे 'आत्मकथा' का अश अधिक है। फिर यदि उसमे कोई गम्भीर आन्दोलन की विफलता से उत्पन्न अवसाद देखने या दिखाने की चेष्टा करे तो उसे क्या कहा जायेगा?

> वेदना कैसा करुण उद्गार है, वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
> तुहिन मे, तृण मे, उपल में, लहर मे, तारकों में, व्योम मे है वेदना।

ससार को वेदनामय देखने की यह, और ऐसी प्रवृत्ति पत की 'ग्रन्थि' को छोड़कर

अन्यत्र कहीं नहीं है। बहुतों के अनुसार 'ग्रन्थि' पन्तजी के अपने अनुभव पर आधारित है, इसमें उन्होंने अपनी प्रणय-कहानी लिखी है। इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक न कह सकने पर भी प्रो॰ नगेन्द्र ने, दबी जबान से ही सही, इतना तो कह ही दिया है कि इसमें 'आत्म-जीवन-सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य है।' निराश प्रेम के लिए, जिसका 'ग्रन्थि' में चित्रण है, संसार को वेदनामय देखने का आग्रह सर्वथा स्वाभाविक है। वेदना का ऐसा जबर्दस्त राग अलापनेवाला व्यक्ति, एक परिवर्तित मनोदशा में, जब सम्भवत. उसके निराश प्रेम की कसक कुछ शिथिल पड़ गयी है, यह कहकर कि —

> जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित है अति सुख से,
> मानव-जग में बँट जावें, दुख सुख से औ सुख दुख से,

सुख-दुख के समीकरण की इच्छा प्रकट करता है, तो हमारी धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। इसका स्पष्ट मतलब है कि यह वेदनावादी दृष्टिकोण एक खास 'मूड' की चीज है, उस मूड के बीत जाने पर वह भावना भी मिट जाती है। इस प्रकार यह वेदना भी व्यक्तिनिष्ठ और उसमें भी परिस्थिति-विशेष से ही सम्बद्ध है।

इसी प्रकार महादेवी की भी वेदना व्यक्तिगत ही है, भले ही वह उनके जीवन में मिले 'बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ' की प्रतिक्रिया ही हो। इसका दूसरा कारण उन्हीं के शब्दों में है 'भगवान् बुद्ध की संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से असमय परिचय।' इस तरह यह स्पष्ट है कि उनके वेदनावाद की भी जड़ या तो वैयक्तिकता में है अथवा अतीत में। वह पारिवारिक या समसामयिक परिस्थितियों से निरपेक्ष है, ऐसा निष्कर्ष अनुचित नहीं होगा।

अपने विचार की स्पष्टता और समर्थन के लिए शायद मैं बहुत कुछ कह चुका। निष्कर्ष यह कि छायावाद पर आरोपित वेदनावाद का उद्भव उस युग के व्यक्तिवाद से है, किसी अन्य कारण से नहीं। यदि वह युगधर्म होता, यदि उसका आविर्भाव राजनीतिक आन्दोलन की विफलता से हुआ होता तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर में भी उसका कम असर देखने को मिलता, पर उनमें कहीं भी निराशा नहीं है, अवसाद नहीं है, उन्हें प्रचुर मात्रा में आशावादिता है। और यह कहना तो निरर्थक होगा कि किसी भी छायावादी कवि की अपेक्षा उनकी राजनीतिक चेतना कम जागरूक नहीं थी। तो इसका कारण है उनका व्यक्तिगत आशावादी दृष्टिकोण। साथ ही, जहाँ छायावादी कवि अधिकतर पराभूत और बाह्य प्रभावों से आक्रान्त थे, वहाँ रवीन्द्र की वाणी उनकी आन्तरिक प्रेरणा की उपज थी और थी साधना से पुष्ट।

यहाँ मैं एक और बात कहने का साहस करता हूँ कि छायावाद में अभिव्यक्ति पाता हुआ निराशावाद को यदि की संज्ञा देकर समीक्षक लोगों ने उसको उस युग की सबसे बड़ी विशेषता मान लिया है। यह भी अनुचित है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि छायावाद में नैराश्य या वेदना नहीं है, जहाँ कवि आनन्द एवं माधुर्य सम्पादित है। वह जहाँ कहीं भी कल्पना से काम लेता है वहाँ वह वेदना नहीं है। उदाहरणार्थ, हम यहाँ पन्त कविताओं को ले सकते हैं, जिनमें यौवन काल में मधुर, स्वर्गीय और मदिर अनुभूति-विभव मिलता है। वहाँ न अवसाद है न दुःख, न वेदना, न निराशा। इस प्रकार

यावाद के बदनाम वेदनावाद का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व अनिवादी आलोचको की लोचना पर भी है, इसमे सन्देह नही ।

छायावाद पर रोमान्टिक भावधारा के प्रभाव के सम्बन्ध मे इतना विचार कर ने के बाद कुछ उन पाश्चात्य साहित्यिक सिद्धान्तो की चर्चा भी आवश्यक है जिनसे छाया-मीन साहित्य प्रभावित हुआ है । इनमे दो सबसे अधिक प्रमुख हैं—(१) क्रोचे का भिव्यजनावाद और (२) आस्कर वाइल्ड का कलावाद ।

बेनेदेतो क्रोचे, जिसका जन्म पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ था, इटली का निवासी था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र' ('ईस्थेटिक्स') मे अन्य लाओं के साथ काव्य-कला पर भी विचार किया, और अभिव्यजनावाद (एक्सप्रेस-नज्म) के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जिसके अनुसार किसी भी कला मे वस्तु (मैटर) का उतना महत्त्व नही, जितना रूपविधान (फार्म) का है। वस्तुतः रूपविधान ही कला का सब कुछ है । कलाकार के लिए हम 'क्या कहते हैं' की अपेक्षा 'कैसे कहते हैं' इस पर ध्यान देना अधिक आवश्यक है, और वही कला का आदर्श है । इस प्रकार इस सिद्धान्त मे अभिव्यंजना का चमत्कार अथवा वाह्य सौंदर्य ही साध्य है, शेष सब कुछ उसका साधन ।

दूसरा सिद्धान्त—कलावाद (कला के लिए कला)—भी काव्य को जीवन अथवा नैतिकता से निरपेक्ष वस्तु ठहराता है । दूसरे शब्दों मे, काव्य या किसी कला का उद्देश्य केवल सौन्दर्यभावना की सतुष्टि एवं तात्कालिक आनन्द देना है, इससे अधिक कुछ नही ।

वस्तु-निरपेक्षता अभिव्यंजनावाद से कही अधिक कलावाद मे है । अभिव्यजना-वाद मे तो केवल अभिव्यजना का प्राधान्य है, किन्तु कलावाद मे वस्तु की घोर उपेक्षा । उसमे नैतिकता-अनैतिकता नाम की कोई चीज नहीं । कलावाद का लक्ष्य केवल सौन्दर्य है, चाहे वह अनैतिक ही क्यो न हो ।

कलावाद का नैतिकता-विषयक दृष्टिकोण क्या था, यह आस्कर वाइल्ड के जीवन की एक घटना से स्पष्ट है । उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'दि पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' के प्रकाशन के बाद उस पर जो मुकदमा चला था, उसमें न्यायालय मे जो प्रश्नोत्तर हुए थे, वे ऐसे हैं—

> प्रश्न—आप कह सकते हैं कि आप की पुस्तक 'दि पिक्चर आफ डोरियन ग्रे' नैतिक है या अनैतिक ?
>
> उत्तर—पुस्तकें नैतिक या अनैतिक नहीं हुआ करती । हाँ, उनके लिखने का ढंग या तो अच्छा होता है या बुरा ।

आस्कर वाइल्ड का यह उत्तर कलावादियों का दृष्टिकोण स्पष्ट कर देता है, नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न यहाँ नितान्त गौण है । तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही कलाकार का साध्य है, साधन उसके चाहे जैसे भी हों ।

इन वादो के प्रभाव छायावाद पर कई रूपो मे देखने को मिलते हैं ।

पहली बात तो यह हुई कि वस्तुविधान के सर्वथा गौण पड जाने तथा कवि का

स्थूल बाह्य सौन्दर्य पर टिक जाने से अनुभूति की मार्मिकता का स्थान कल्पना ने ले लिया। इस कल्पना के अतिरेक के दो दुष्परिणाम हुए, एक यह कि कविता जीवन से विच्छिन्न बहुत कुछ अनिर्वचनीय होकर रह गयी, और दूसरा यह कि प्रधानतः कल्पना-प्रसूत वस्तु का साधारणीकरण न होने से अर्थबोध में क्लिष्टता आ गयी। यह तो सिद्ध ही है कि अनुभूतिजन्य काव्य का साधारणीकरण जितना सुगम है, उतना कल्पनाजन्य का नहीं, क्योंकि जहाँ हमारी अनुभूतियों में समानता रहती है, वहाँ कल्पना में प्रायः विभिन्नता। इसलिए कल्पना-जनित वस्तु के साधारणीकरण का अवकाश या तो अपेक्षाकृत कम रहता है या फिर नहीं ही रहता। उदाहरण के लिए, पन्तजी की 'नक्षत्र' नामक कविता ली जा सकती है, जिसमें कल्पना के खेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अतः उसमें सरसता, सार्थकता और सुबोधता तीनों का अभाव है। कितने स्थल तो ऐसे हैं, जिनका ठीक अभिप्राय पन्तजी को छोड़कर और कोई भी समझने का दावा नहीं कर सकता। प्रो० नगेन्द्र-जैसे पंतजी के सहानुभूतिपूर्ण आलोचक को भी (जो उनके दोषों पर प्रायः दृष्टिपात करना नहीं चाहते) यह कहने को बाध्य होना पड़ा है कि "'नक्षत्र' में पन्तजी की कल्पना गृध्रराज के पंख लेकर उड़ी है, परन्तु भावुकता का साथ न हो सकने के कारण वह कोरी उड़ान ही हो गयी है।"

छायावादी काव्य की दुरूहता का एक प्रधान कारण अनुभूति के साथ कल्पना का यह अनुचित हस्तक्षेप तो है ही, किन्तु एक बात और है। प्रथमयुद्धोत्तरकालीन अंग्रेजी-कविता में हम एक प्रवृत्ति देखते हैं। वह यह कि कवि किसी एक भाव को लेकर उसका यौक्तिक विकास नहीं करता, अपितु स्वतन्त्र, परस्पर असम्बद्ध जो चित्र उसके मानसपटल पर अंकित होते चलते हैं, उनका जमघट खड़ा कर देता है। परिणाम यह होता है कि उसके पूर्वापरकथन में अन्विति नहीं रह जाती, और इस प्रकार अर्थबोध में दुरूहता आ जाती है। युद्धोत्तरकालीन अंग्रेजी-कविता की आलोचना करते हुए एक समीक्षक कहता है कि 'अब की कविता यौक्तिक नहीं रही, बल्कि प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक) है, वह विचार और ध्वनि के सामंजस्य पर निर्भर करती है। इस काल की कविता में शब्दों का प्रयोग निश्चित विचारों के स्वीकृत संकेत के रूप में न होकर कवि के मानसिक चित्रों के प्रतीक के रूप में हुआ है। काव्य-रचना किसी केन्द्रीय विचार को लेकर नहीं होती, बल्कि उसमें अनेक मानसिक भावनाओं की शृंखला जुड़ी रहती है, जो उस विचार से उत्पन्न हुई रहती हैं।' अंग्रेजी-कविता का यह प्रभाव भी सम्भवतः छायावाद पर पड़ा है, क्योंकि यह दोष भी उसमें प्रचुर परिमाण में वर्तमान है। कई स्थलों पर देखा जाता है कि एक पंक्ति के अर्थ से दूसरी पंक्ति के अर्थ की कोई अन्विति नहीं बैठती, और पाठक को पद-पद पर एक अजीब उलझन का सामना करना पड़ता है। बहुत बार तो पर्याप्त मानसिक व्यायाम के बाद भी वह किसी संगत निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता।

अभिव्यंजनावाद और कलावाद का दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि अभिव्यंजना-प्रणाली के चमत्कार को ही सब-कुछ मान लेने से अभिव्यंग्य वस्तु की उपेक्षा स्वाभाविक हो गयी। अर्थभूमि तो इतनी संकीर्ण हो गयी कि 'प्रेम' के अतिरिक्त उसमें और किसी वस्तु का समावेश ही नहीं हो सका। जैसा शुक्लजी ने कहा है, जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों

ी ओर उन (छायावादी कवियों) की दृष्टि नहीं जा सकी।

इन दोनों वादों—विशेषतः कलावाद—ने सौन्दर्य की मान्यता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया, सौन्दर्य साधन के बदले स्वयं साध्य बन गया, और तब जबर्दस्ती सौन्दर्य लाने के प्रयास में कृत्रिमता का आना अनिवार्य था। आवश्यकता-अनावश्यकता, औचित्य-अनौचित्य का विचार किये बिना 'सौन्दर्य-चयन के लिए इन्द्रधनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन, अधर-पल्लव, इत्यादि बहुत-सी सुन्दर और मधुर सामग्री का प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक' समझा जाने लगा। भावों का पिष्टपेषण और बँधी हुई पदावली का प्रयोग होने लगा। जो छायावाद रूढ़ि के विरुद्ध विद्रोह के रूप में उत्पन्न हुआ था, वह स्वयं रूढ़ि के दल-दल में जा फँसा!

कलावाद के साथ व्यक्तिवाद के मिश्रण से गीतितत्व का एकाधिकार स्थापित हो गया। विज्ञान के प्रसार ने कल-कारखानों की वृद्धि की, कल-कारखानों ने नगरों का निर्माण किया, और नागरिक जीवन ने व्यक्तिवाद को जन्म दिया। ग्राम्य जीवन की उन्मुक्तता नगरों में स्वप्न हो गयी। कहाँ तो गाँवों में हम पीढ़ियों से एक-दूसरे के सुख-दुःख में हाथ बँटाते चले आये हैं—सैकड़ों वर्षों का सहवास, रीति-रस्म, रहन-सहन, आचार-विचार सब एक, और कहाँ नगरों में एक आदमी मद्रास से आया, दूसरा पंजाब से, संयोग से दोनों एक-दूसरे के पड़ोसी बन गये! दोनों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं, आकृति-प्रकृति, भाव-भाषा, रीति-रिवाज, वेश-भूषा सब अलग! अब यदि उनमें सम्पर्क न हो तो क्या आश्चर्य? ऐसी दशा में हमारा 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट' होना अनिवार्य है। इस तरह हमारी वाह्यवस्तुनिरपेक्ष, अत्यधिक आत्मनिष्ठता ने अपनी ही भावनाओं को सर्वाधिक महत्व देना, अपने ही हास-रुदन को कविता में व्यक्त करना शुरू किया। अतः लगभग समान परिस्थिति होने से पश्चिम की भाँति यहाँ भी प्रगीत-मुक्तकों के प्रसरण का बड़ा ही उर्वर क्षेत्र तैयार हुआ।

जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में छायावाद पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित और अनुप्राणित हुआ उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी भारतीय सिद्धान्तों की अपेक्षा विदेशी सिद्धान्त अधिक रुचिकर प्रतीत हुए। पंत ने बड़े अभिनिवेश के साथ 'पल्लव' की भूमिका में कहा—"रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों के जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। आशा है, विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये हैं।"

यहाँ पर वस्तुतः आलोचना का प्रश्न उठाना कोई बहुत आवश्यक नहीं था, लेकिन यह उद्धरण उस व्यक्ति के वक्तव्य से है जो छायायुग का अन्यतम कलाकार रहा है, और यह इस बात का प्रमाण है कि पाश्चात्य भावना ने हमें कितना आक्रान्त और अभिभूत कर रखा था। ऐसा था आकर्षण पश्चिम का! अतः यदि कला-सम्बन्धी मान्यताओं की प्रेरणा के लिए छायावाद पश्चिम की ओर हाथ पसारे रहा तो इसमें क्या आश्चर्य! हिन्दी के

अंग्रेजी-ढंग की समालोचना के प्रचार का मैं विरोधी नहीं हूँ, पर यह ठीक है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इतना तुच्छ नहीं कि उसे उपेक्षणीय माना जाए और न 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्' लिखनेवाले की व्याख्याएँ इतनी सरल कि उन्हें सभी कोई 'अच्छी तरह समझ' जाएँ।

वस्तु के सम्बन्ध में इतना विचार कर लेने पर अब रूप-विधान के सम्बन्ध में भी कुछ कहना उचित होगा।

सबसे पहले भाषा को ही लीजिए। ऐसे तो गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा भारतेन्दु के समय में ही हो चुकी थी, पर पद्य की भाषा अभी ब्रज ही थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी-साहित्य में द्विवेदीजी के पदार्पण के साथ खड़ीबोली पद्य की भाषा के रूप में भी गृहीत हुई। किन्तु पद्योपयुक्त भाषा की न तो उसमें मधुरता थी, न कोमलता। विशेषत. ब्रज जैसी माधुर्यपूर्ण भाषा के अभ्यस्त कानों को तो उसकी रुक्षता बहुत खटकने की चीज थी। छायावाद की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण देन खड़ीबोली को पद्योपयुक्त भाषा बनाने में है। यह छायावाद का ही प्रसाद है कि इतने कम समय में खड़ीबोली इतनी चित्रमय, इतनी मार्मिक, इतनी सजीव एवं परिमार्जित हो सकी। यहाँ उसके अन्य गुण-दोषों की चर्चा न कर संक्षेप में केवल यही देखने का प्रयास किया जायगा कि उस पर बाह्य प्रभाव कुछ है या नहीं, और यदि है तो क्या है।

ऐसे तो शब्द-भण्डार बढ़ाने के लिए छायावाद ने सबसे अधिक संस्कृत का आश्रय लिया, किन्तु उस पर अंग्रेजी और बँगला के प्रभाव से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी का अच्छा या बुरा, पर सबसे बड़ा, प्रभाव यह पड़ा कि अंग्रेजी वाक्य-खण्डों या शब्दों का ज्यों-का-त्यों हिन्दी-रूपान्तर करके प्रयोग किया जाने लगा, जैसे स्वप्निल मुस्कान (ड्रीमी स्माइल), सुनहला स्पर्श (गोल्डेन टच), भग्न हृदय (ब्रोकन हार्ट), रेखांकित (अन्डरलाइण्ड), स्वर्गीय प्रकाश (हेवन्ली लाइट, डिह्वाइन लाइट), सुवर्ण का काल, स्वर्ण-समय (गोल्डेन एज), कनक प्रभात (गोल्डेन मार्निंग) आदि। हिन्दी भाषा के लिए सर्वथा अपरिचित ऐसे प्रयोगों को शुक्लजी ने 'अजायबघर के जानवरों' से उपमा दी है। 'गोल्डेन' के हिन्दी-रूपान्तर 'सुनहला', 'सोने का', 'सुवर्ण का', 'स्वर्णिम' आदि का पंतजी की कविता में आवश्यकता से अधिक व्यवहार हुआ है, जिसको देखकर निराला ने लिखा है कि पंतजी की कविता में सोने का बहुत खर्च है। बँगला की अनेक पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि 'बँगला के कवि अपनी कविता-सुन्दरी को आवश्यकता से बहुत अधिक स्वर्णाभरण पहना चुके हैं, और उनके साहित्य में सोने की आमदनी हुई है विलायत के कवियों की मौलिक कृतियों की खानों से। पीछे चलकर 'स्वप्निल' आदि शब्दों के साम्य पर 'तन्द्रिल', 'धूमिल' आदि शब्द भी गढ़े गये। बँगला के 'गान-गान', 'राशि-राशि' आदि प्रचलित मुहावरे पंतजी के द्वारा अपनाये गये।

भाषा के सम्बन्ध में एक बहुत महत्वपूर्ण बात हुई, एक ही अर्थ के वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों से भिन्न-भिन्न चित्रों को उपस्थित करने की क्षमता की पहचान। इससे भाषा की चित्रमयता बहुत बढ़ गयी। पंतजी का निम्नलिखित उद्धरण इस दृष्टि से रुचिकर और उपादेय है—

"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं, जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता और ऋजुता का हृदय में उदय होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्ष स्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हंसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोलकल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्थानपूर्ण तरंगों का, आभास मिलता है, 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलता है, उड़ान के लिए भारी लगता है, जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अंग्रेजी का "विंग" जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'टच' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो आता है, उसका चित्र है, ब्रजभाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'ज्वाय' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अंग्रेजी के 'एयर' में एक प्रकार की 'ट्रान्सपेरेन्सी' मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है। 'प्रभंजन' 'विंड' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे, हवा रुक गयी हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"

भाव और भाषा की मैत्री का यह विचार, जो अंग्रेजी-साहित्य के अनुशीलन से उत्पन्न है, सचमुच अभिनन्दनीय है।

छायावाद के नवीनता-प्रिय दृष्टिकोण ने जो कुछ प्राचीन-पुरातन था, उसको जीर्णशीर्ण कहकर उपेक्षित कर दिया, और काव्य-कला-सम्बन्धी नये मतों की खोज में प्रयत्नशील हुआ। भारतीय काव्यशास्त्रों ने काफी तर्क-वितर्क, पर्याप्त खण्डन-मण्डन, और सूक्ष्म मनन-पर्यालोचन के पश्चात् कई काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये थे। उनमें पाँच अलंकारवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद, रसवाद—अत्यन्त प्रसिद्ध और मान्य थे, किन्तु छायावादियों को इनमें एक भी मान्य नहीं प्रतीत हुआ, कारण कि ये प्राचीन थे, और प्राचीन नियम या मर्यादाएँ इस युग में केवल बंधन समझी जाती थीं। इस तरह यहाँ भी उनकी सतुष्टि पश्चिमी आदर्शों से हुई, जिनमें व्यंजना नाम की वस्तु तो थी, परन्तु भारतीय व्यंजना से भिन्न वह पश्चिम के 'सजेस्टिवनेस' का रूपान्तर थी। जब काव्य का प्रधान लक्षण यह 'सजेस्टिवनेस' बना तो काव्य प्रसाधन की सामग्री भी वहीं से उधार ली गयी। अलंकारों को सामान्यतः तिलांजलि दे दी गयी। हाँ, उनमें समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि व्यंजना-प्रधान अलंकार ज्यों-के-त्यों गृहीत हुए, और इनके साथ

पश्चिम से तीन अलंकारों का ग्रहण हुआ। वे थे विशेषणविपर्यय, ध्वन्यर्थव्यंजना एवं मानवीकरण।

आह यह मेरा गीला गान!

यहाँ 'गीला' यद्यपि गान का विशेषण है, पर वह गीली आँखों वाले—आँसू बहाने वाले—व्यक्ति का द्योतक है। गान गीला नहीं होता। वैसे ही—

कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता सिसकता गान है।

यहाँ भी गान का विशेषण 'सिसकता' सिसकते हुए व्यक्ति का बोध कराता है। इसी प्रकार—

अन्धकार का अलसित अंचल अलि द्रुत ओढ़ेगा संसार।

में 'अलसित' अंचल का नहीं, संसार का विशेषण होना चाहिये। इस प्रकार छायावाद में विशेषणविपर्यय की भरमार है।

ध्वन्यर्थव्यंजना में शब्दों की ध्वनि से ही अर्थ व्यक्त हो जाता है। निराला के 'बादलराग' की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्वन्यर्थव्यंजना का बहुत सुन्दर उदाहरण हैं—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु, मर्मर, सागर में,
सरित्-तड़ित्-गति चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में
आनन-आनन में रव घोर कठोर
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर।

इस उद्धरण में शब्द-विन्यास ऐसा है कि प्रथम दो पंक्तियों से मेघ का गरजना, बीच की पंक्तियों से पहले जोर से, फिर धीरे-धीरे, बूंदों का गिरना और अन्त की दो पंक्तियों द्वारा पुनः गरजना व्यंजित होता है। मेघ के गर्जन और वर्षण का कितना सजीव चित्र है!

पंत की ये पंक्तियाँ भी उत्तम हैं—

गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में
भर अपना सन्देश उरों में औ' अधरों में
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में।

अचेतन का चेतनवत् वर्णन मानवीकरण की विशेषता है, जो छायावादी कविताओं में प्रचुर परिमाण में प्रयुक्त हुआ है। निराला की 'सन्ध्यासुन्दरी', पंत की 'छाया' आदि कविताएँ इसका उदाहरण हैं।

बात यह है कि मानवीकरण अथवा ध्वन्यर्थव्यंजना भारतीय साहित्य के लिए कोई नई चीज नहीं है—कालिदास का 'मेघदूत' मानवीकरण का संभवतः सर्वोत्तम उदाहरण

है। सूर, तुलसी अथवा रीतिकालीन कवियों में भी मानवीकरण के उदाहरण वर्तमान हैं। वैसे ही ध्वन्यर्थव्यंजना पर भी प्राचीन कवियों ने ध्यान दिया था। भवभूति द्वारा गोदावरी के प्रवाह का यह चित्रण ध्वन्यर्थव्यंजना की दृष्टि से अत्यन्त सफल है —

एते ते कुहरेषु गद्गद्नदद्गोदावरीवारय ।

तुलसीदासजी के 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' अथवा 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' आदि वाक्य ध्वन्यर्थव्यंजना नहीं तो और क्या है? इस तरह प्रयोग की दृष्टि से स्पष्ट है कि ये चीजें हमारे लिए नयी नहीं हैं, नयापन है इन्हें अलंकार के रूप में ग्रहण करने में। अलंकार के सैकड़ों भेद करने पर भी प्राचीन आचार्यों ने इन्हें अलंकार में परिगणित नहीं किया। शायद उन्होंने 'रसानुकूल पदसंघटना' मानकर अनुप्रास के अन्तर्गत ही मान लिया था। फिर भी यह सही है कि इन अलंकारों के अपनाने से हिन्दी की व्यंजनाशक्ति, चित्रमयता आदि का अनुपम विकास हुआ।

भाषा के समान ही छन्द के क्षेत्र में भी छायावाद की देन बहुत बड़ी है, और उस पर दूसरों का प्रभाव भी बहुत बड़ा है। हिन्दी या संस्कृत-साहित्य में प्रचलित मात्रा-वृत्त एवं वर्णवृत्त तो हिन्दी की अपनी वस्तु थे ही, किन्तु अंग्रेजी और बँगला के प्रभाव में भी छन्दों में कई नये परिवर्तन हुए। नवीन छन्दों की उद्भावना में निराला तथा पन्त का श्रेय सबसे अधिक है।

निराला ने जिस मुक्त-छन्द का प्रवर्तन किया उसका आरम्भ अंग्रेजी के 'फ्री-व्हर्स' के अनुकरण पर माना जाता है। जैसा सभी जानते हैं, आरम्भ में इस मुक्त-छन्द को बड़े विरोध का सामना करना पड़ा, किन्तु काल-क्रम में इसने अपनी मान्यता सम्यक् रूप में प्रमाणित कर दी। इस मुक्त-छन्द का उचित प्रयोग और निर्वाह कुशल कलाकार द्वारा ही सम्भव है। अनाड़ी हाथों में पड़कर यह अपना सारा सौन्दर्य एवं चमत्कार खो बैठता है। ऊटपटांग तरीके से कुछ भी लिख देने को मुक्त-छन्द नहीं कहते। लयात्मक प्रवाह इस छन्द का प्राण है।

छन्द-सम्बन्धी दूसरा परिवर्तन वहाँ देखने को मिलता है, जहाँ किसी पद्य की पंक्तियाँ सामान्यतः तो सममात्रिक होती हैं, परन्तु कभी-कभी भावों की आवश्यक प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता के लिए किसी पंक्ति को छोटा या बड़ा कर दिया जाता है। पन्त के अनुसार यह स्वच्छन्द-छन्द है, और निराला के अनुसार विषममात्रिक तुकान्त। मुक्त-छन्द की तरह इसमें तुक का अभाव नहीं रहता। इस श्रेणी के छन्द बँगला से प्रभावित हैं, जहाँ भावानुकूल कोई पंक्ति अत्यन्त छोटी और कोई बहुत बड़ी हुआ करती है।

छन्द-सम्बन्धी परिवर्तन की एक तीसरी कोटि भी है। संस्कृत-वर्णवृत्त अतुकान्त होते ही थे पर हिन्दी के सममात्रिक छन्दों में अतुकान्त रचना का प्रचलन कम था। फिर भी अंग्रेजी कविता के ब्लैंक व्हर्स और उसी नमूने पर निर्मित माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' के अनुकरण पर सममात्रिक छन्दों में भी तुक का बहिष्कार किया गया। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इसका सबसे सुन्दर उदाहरण पन्त की 'ग्रन्थि' है, जिसमें आरम्भ से अन्त तक सममात्रिक (१६ मात्राओं के) अतुकान्त छन्द का सफल

परम्परा और प्रगति

महादेवी वर्मा

वर्तमान आकाश से गिरी हुई सम्बन्धरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है, जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल मे ही ढूंढ़ा जा सकता है। हमारे छायावाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है। मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र बन्धनो का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊबकर उनको तोड़ने मे अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव मे छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छायाचित्रो को बनाने के लिए और भी कुशल चितेरों की आवश्यकता होती है; कारण, उन चित्रों का आधार छूने या चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नहीं। यदि वे मानव-हृदय में छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी सवेदना का रग चढ़ाकर न बनाये जाएँ तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगें या नही, इसमें कुछ ही सदेह है।

प्रकाश-रेखाओ के मार्ग मे बिखरी हुई बदलियों के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेनेवाली जल-राशि में कही छाया और कहीं आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियों के अनुसार भिन्नवर्णी हो उठी है।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्म-वाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध मे प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की

प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गयी, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं।

किन्तु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की संज्ञा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलतः नवीन नहीं है, क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त-रेखा तक पाते हैं। कारण स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचार-सरणि, भाव-पद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं। परन्तु संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है, क्योंकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र होता है और न केवल सामाजिक चेतना, न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देश-विदेश के जलवायु में विकसित जाति-विशेष के अन्तर्जगत् और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और सीमा में भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आँगन का आकाश। यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है, परन्तु मूल तत्त्वों का बदल जाना, तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेरे रहनेवाला वह विशिष्ट वायुमण्डल ही न हटा लिया जावे।

कविता के जीवन में भी स्थूल जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना, उसका चिन्तन में अत्यधिक प्रसार और अन्त में निर्जीव अनुकृतियाँ आदि क्रम मिलते ही रहे हैं। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा, जिसकी धारा, वीर-गाथा-कालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखण्डों में से फूटकर निर्गुण-सगुण-भावनाओं की उर्वर भूमि में प्रशान्त-निर्मल और मधुर होती हुई, रीतिकाल न रूढ़िवाद के क्षार जल में मिलकर गतिहीन हो गयी। परिवर्तन का वही क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूप-रेखाओं में बाँधता चल रहा है या नहीं, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रूढ़िवाद से थके हुए कवियों ने, जब सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझकर, ब्रजभाषा का जन्मजात अधिकार खड़ीबोली को सौंप दिया, तब साधारणतः लोग निराश हो गए। भाषा लचीलेपन से मुक्त थी और उक्तियों में चमत्कार न मिलता था। इसके साथ-साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल

और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठीं। इसमे सन्देह नही कि उस समय की अधिकांश रचनाओं में भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्विक, छन्द नवीनता-शून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और संस्कृत मिलते हैं। पर स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को, फिर उन्ही रेखाओं मे बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हे नवीन रूपरेखाओं मे सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छन्दबन्धों मे, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ी-बोली की सात्विक कठोरता नही सह सकता था। अन्त कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया। इस युग की प्राय. सब प्रतिनिधि रचनाओं मे किसी-न-किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य मे व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी, परन्तु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण, वे कहीं सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, कही संवेदना की गहराई, कही कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी हैं।

पिछले छायापथ को पारकर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है, उसने अस्पष्टता जैसे परिचित विशेषणों में, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़कर, छायावाद को अतीत और वर्तमान से सम्बन्धहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन मे परीक्षा नही हो सकी है, अतः यह हमारे मानसिक जगत् मे ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौन्दर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्विकता मे भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह हमारे कृष्णकाव्य का शृंगार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ीबोली का सौन्दर्यहीन इतिवृत्त उसे छिपा भी न सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य को असंख्य रंग-रूपों मे अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि मे भी अपना स्थान ढूंढती रहती है, मोड़ना कब सम्भव होता, यह कहना कठिन है। मनुष्य की निम्नवासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य को इतने उदात्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार मे तो सूक्ष्म के सम्बन्ध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण मे

अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ है, अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ; परन्तु उसकी सौन्दर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को सकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं, जो आज की वस्तु है। परन्तु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुन्दर और सजीव चित्रशाला में, हमारी दृष्टि को दौड़ा दौड़ाकर ही, उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखलाया। इसी से छायावाद के सौन्दर्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौन्दर्य-सत्ता के प्रति नितान्त उदासीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमें निर्माण के परमाणु नहीं पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमें अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौन्दर्यदृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियों के चित्रों की निष्क्रियता में मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओं के रूप भी छायायुग की छाया में निखरे ही। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गए जय-पराजय के गान स्थूल के धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों से जो मार्मिकता ला सके हैं, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमें सदेह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन' में तापपूत वैधव्य का जो चित्र है, वह अपनी दिव्य लौकिकता में अकेला है।

सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपकों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देने वाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र में इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नहीं। पर अन्य युगों के समान इस युग में भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेंगी ही।

जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक सन्तुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्मगत रूढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है, वह तो केवल विधि-निषेधमय सिद्धान्तों का संग्रह है, जो अपने प्रयोगकर्त्ता को खोकर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हमें जीवन के ध्वंस में लगे हुए विज्ञान के स्थूलों को भी अस्वीकार कर देना चाहिए। अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है, विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है, दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परन्तु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल

मे दुर्बल मानव, वानर या वनमानुष की पंक्ति में खड़ा होकर, सृष्टि मे सुन्दरतम ही नही, शक्ति और बुद्धि मे श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिलाकर, उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तन्तु ढूँढकर हम, उन रूपों मे सामजस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रूढ़िगत सूक्ष्म न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिकवाद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा, जो अध्यात्मपरम्परा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमे केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

हमारा कवि भावित और अनुभूत सत्य की परिधि लांघकर न जाने कितने अर्द्ध-परीक्षित और अपरीक्षित सिद्धान्त बटोर लाया है और उनके मापदण्ड से उसे नापना चाहता है, जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अत. आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा-खोटापन कसने की कोई कसौटी नही है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा, यह निर्विवाद है, परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर है।

वास्तव में जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सम्बन्ध है जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड-खण्डकर उसके सम्बन्ध मे सारा ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमें उसके प्रति अनुरक्ति नही देता। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रसूत चिन्तन मे ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित को अपनी संवेदना मे रँग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नहीं; और यदि देता भी है, तो वे एक एक मासपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते हैं, जिसका उपयोग केवल शरीर-विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रँग चढ़ाये यथार्थ का चित्र दे, परन्तु इस यथार्थ का कला में स्थान नही, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नही स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान् और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और तब दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओ और दो-एक रंग के धब्बों से ही दो क्षण मे अपना चित्र समाप्त कर देगा; परन्तु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा-बैठाकर उस वस्तु को ज्यों-का-त्यों कागज पर उतारने मे सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है, परन्तु वह हमारे हृदय को छू न सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमे चित्रकार ने रेखा रेखा न मिलाकर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण मे होती है, जिसमें वह जीवित ही नहीं अपने

सम्पूर्ण प्राण-प्रदेश से अणु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका सम्बन्ध विश्व अपनी परिचित इकाई में भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति में भी गतिमत्ता के द्वार पर द्वार खोलता जाता है। यदि जीवन के निम्नस्तर से भी काव्य के उपादान ला सकता है, परन्तु वे उसी के होकर सजग अभिव्यक्ति करेंगे और उसके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रंगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह, एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप से यह उस तारुण्य का द्योतक है, जो चाँदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढँक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं, तब अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रंगीन और राग की सुरभि से ही काँटों को सुवासित करने लगते हैं। परन्तु जैसे-जैसे संघर्ष में हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं, कल्पना के पंख झड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अन्त में पलित केशों के साथ इसके भी रंग धुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है, जिसमें हमें जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है, उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य सम्भव नहीं, इसी से आज न कवीन्द्र वृद्ध हैं न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं, किन्तु वह एक सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखण्ड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिन्तन में ऐकान्तिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं, जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भू-खण्ड के सम्बन्ध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आँक सकेंगे और वर्ग-उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर, उसके सम्बन्ध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे; परन्तु खण्ड-खण्ड में व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यष्टि में व्याप्त एक विराट् जनभावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाँटकर, जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना जागृत करना सम्भव नहीं है, केवल शतरंज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा-बढ़ाकर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ-द्रष्टा ही नहीं स्वप्न-स्रष्टा भी होना पड़ता है।

छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं; परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता में देखना चाहेंगे, तो हम भी असफल ही रहेंगे।

पलायनवृत्ति के सम्बन्ध में हमारी यह धारणा बन गयी है कि वह जीवन-संग्राम में

असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगों से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकने वाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है, यह कथन कितना अपरीक्षित है, इसका सबल प्रमाण हमारा चिन्तन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर संघर्ष से निश्चेष्ट थी न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उसका घर धन-धान्य से शून्य था और न जीवन सुख-सन्तोष से, न उनके सामने सामाजिक विकृति थी और न सांस्कृतिक ध्वंस। परन्तु इन सुविधाओं से अति परिचय के कारण उसका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिन्तन के नवीन लोक में भटक गया और उपनिषदों में उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर से स्थूल की ओर लौटना पड़ा।

व्यक्ति के जीवन में भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के संघर्षों में पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नहीं किया, भौतिक सुखों के अति परिचय ने ही थकाकर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन में, पढ़ने से जी चुराने वाले विद्यार्थी को, जब हम खिलौनों से घेरकर छोड़ देते हैं, तब कुछ दिनों के उपरान्त वह स्वयं पुस्तकों के लिए विकल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक, जब अचानक खेत और चिड़ियों को भूलकर बिरहा या चैती गा उठता है, तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर, किसी आम्रवन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति कहें, चाहे उससे पलायन की वृत्ति, वह परिश्रमपातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल में मध्यम वर्ग की ऐसी स्थिति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओं के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जागृत नहीं हुए थे और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असन्तोष का इतना स्पष्ट रंग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही, उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन परिस्थितियों ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियों की कोमल भावनाएँ तो कारागार की कठोर भित्तियों से टकराकर भी ध्वंस नहीं हो सकीं; परन्तु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियों को जीवन-संघर्ष में नहीं ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरम्भ में जो विकृति थी आज वह अनगुण हो गयी है। उस मन्द की अग्नि की चिनगारी आज सहस्र-सहस्र लपटों में फैलकर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परन्तु आज भी तो हम अपने शान्त चिन्तन में बुद्धि से तराश-तराशकर सिद्धान्तों

के प्रति ही बना रहे हैं। हमारे सिद्धान्तों की अनुगामिनी बनकर ही जो यथार्थ का सत्य है, उसे भी हमारे हृदय के बन्द द्वार से टकरा-टकराकर ही लौटना पड़ रहा है। वास्तव में हमने जीवन को उसके सहित सौन्दर्य के साथ न स्वीकार करके, एक विशेष बौद्धिक दृष्टि-कोण से ग्रहण कर लिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावलोक में पलायन सम्भव है उसी प्रकार यथार्थ की सरसता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का सिद्धान्त में पलायन सहज है। और यदि विचारकर देखा जाय, तो जीवन से केवल भावजगत् में पलायन उतना हानिकर नहीं, जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ अंगों को निष्क्रिय कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।

यदि इन सब उलझनों को पारकर हम पिछले और आज के काव्य की, एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें, तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशात्मक इतिवृत्त, उसी युग में उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने-कोने और सूक्ष्म सौन्दर्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है; अब स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौन्दर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की, व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें, तो जीवन का सामञ्जस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि में निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा, तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त कारण हैं। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पड़ने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओं के निकट है। उसके प्रतिनिधि कवि, भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बंगला काव्य-साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परन्तु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नहीं दे सकता था। विशेषतः बंगला से उन्हें जो मिला, वह तत्त्वतः भारतीय ही था, क्योंकि कवीन्द्र स्वयं भारतीय संस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी हैं। उन्होंने अपने देश की अध्यात्म-सुधा से पश्चिम का मृत्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियों ने उनके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कृतज्ञता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओं की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दुःखों की अभिव्यक्ति, इस काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो परस्पर सापेक्ष रहेंगी।

जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है, वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियों का प्रतीक भी बनी, उसे जीवन की सजीव संगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति

द्वारा अखण्ड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिम्ब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रहा।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौन्दर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है, जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति सम्भव नहीं। वह मेघ को प्राकृतिक परिणाम नहीं, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है :

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृत नाम भेजिरे।[1]

ऐसे चित्रगीतों ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ-गीतों को कितनी रूप-रेखा दी है, यह अनुमान कठिन नहीं।

बादल गरजो!
घेर घेर घोर गगन धाराधर ओ!
ललित ललित काले घुँघराले,
बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत् छवि उर में कवि नव जीवन वाले!
वज्र छिपा नूतन कविता फिर भर दो!—निराला

इस गति की रूप-रेखा ही नहीं, इसका स्पन्दन भी ऐसी सनातन प्रवृत्ति से सम्बद्ध है, जो नये-नये रूपों में भी तत्त्वतः एक रह सकी।

खड़ीबोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—

प्रत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त-माला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावों भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकर-मुखी रजनीपुरन्ध्री!—हरिऔध

छायावाद का कवि रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पन्दन को देता है—

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास
मदिर माधव यामिनी का धीर पद-विन्यास।
कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;
राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है, तामरस-सुन्दर चरण के प्रान्त।
मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप!—प्रसाद

प्रसादजी अपनी सुनहली तूलिका से इला का चित्र खींचते हैं—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल!
था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा का जीवन-सार लिये,

---

१. कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायकों को ख्याति अमर है। ऋ० ५।५७।५

दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये,
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक-वसन लिपटा अराल;

यह रूप-दर्शन हमें ऋग्वेद की उषा के सामने खड़ा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती शुक्रवासा।
विश्वस्येशाना[1] ....॥

कामायनी में श्रद्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

इससे हजारों वर्ष पहले अथर्व का कवि लिख चुका है—

सिन्धोर्गर्भोसि विद्युतां पुष्पम्।[2]

उदयाचल से बाल हंस फिर, उड़ता अम्बर में अवदात।—पन्त

आदि पंक्तियों में हंस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अंकित किया गया है, वह भी अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है—

सहस्रहण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।[3]

आधुनिक कवियों के लिए आज की परिस्थितियों में प्राचीन मनीषियों का अनुकरण करना सम्भव ही नहीं था, पर उनकी दृष्टि की भारतीयता से ही उनकी रचनाओं में वे रंग आ गये, जो इस देश के काव्य-पट पर विशेष खिल सकते थे।

विश्व के रहस्य से सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशील होती है, तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है, तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रश्नों में व्यक्त होती है।

अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नों का रूप देता है—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन॥[4]

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी एक रहस्यमय सौन्दर्य दिया है—

किसके अन्तःकरण-अजिर में अखिल व्योम का लेकर मोती,
आँसू का बादल बन जाता फिर तुषार की वर्षा होती?—प्रसाद

---

१. वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आलोक-परिधान से वेष्टित किरणों से उद्भासित नवीन और विश्व की समस्त निधियों की स्वामिनी है।
२. तू समुद्रों का सार है, तू बिजलियों का फूल है।
३. आकाश में उड़ता हुआ वह उज्ज्वल हंस (सूर्य) अपनी सहस्रों वर्ष दीर्घ यात्रा तक पंख फैलाये रहता है।
४. यह समीर क्यों नहीं चैन पाता? मन भी क्यों नहीं एक ही वस्तु में रमता? (दोनों क्यों चंचल हैं?) कौन-से सत्य तक पहुँचने के लिए (जीवन के समान) जल भी निरन्तर प्रवाहित है?

अलि ! किस स्वप्नों की भाषा में इंगित करते तरु के पात ?
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन वह तारक-स्वप्नों की रात ?—पन्त

संस्कृत-काव्यों मे प्रकृति दिव्यता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से पग मिलाकर चलने लगती है, अत हम मानव-आकार के समान ही उसकी यथार्थ रूपरेखा देखते हैं और हृदय के साथ गूढ स्पन्दन सुनते हैं।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ कालिदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओं मे भी अंकित किया है और जीवन के हर स्वर से स्वर मिलानेवाली सगिनी के रूप मे भी। संस्कृत काव्यो मे चेतन ही नही जड भी मानव-सुख-दु ख से प्रभावित होते हैं।

दु.खिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति ।

हरित तृण छोड़कर मृग रोते हैं, शोक-विधुर हस करुण क्रन्दन करते हैं। इतना ही नही, मनुष्य के दु ख से 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—पाषाण भी आँसुओं में पिघल उठते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से 'अकरोत् पृथ्वीरुहानपि स्रु त-शाखा-रस-बाष्पदूषितान्'—वृक्ष अपनी शाखाओ के रस-रूपी अश्रु-बिन्दुओं से गीले हो जाते हैं।

हिन्दी-काव्य मे भी इसी प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं। निर्गुण के उपासकों ने प्रकृति मे रहस्यमय अव्यक्त के सौन्दर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण भक्तो ने, उसे अपने व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव सगिनी बनाया और रीति के अनुयायियों ने उसे प्रसाधन मात्र बनाने के प्रयास मे भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके बिना उनके नायक-नायिकाओं के शरीर-सौन्दर्य और भावो का कोई नाम-रूप ही असम्भव हो गया।

खडीबोली के कवियो ने अपने काव्य मे जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप मे अंकित किया है, जैसा संस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध मे मिलता है। प्रियप्रवास की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वन-वासिनी सीता को घेरने वाले मृग-विहग-लता-वृक्ष, सबके चित्रण मे स्पष्ट सरल रेखाएँ और सूक्ष्म स्पन्दन मिलेगा। प्रकृति को सगिनी के रूप मे ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि उत्कृष्ट काव्यो से लेकर लोकगीतों तक व्याप्त हो चुकी है। ऐसा कोई लोकगीत नहीं, जिसमे मनुष्य अपने सुख-दुख की कथा कोयल-पपीहा, सूर्य-चन्द्र, गगा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनाता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो।

छायावाद मे यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमे जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन सहज कर देती है। इसी से कवि रूप-दर्शन को एक विराट् पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यष्टिगत सुख-दु.खो को जीवन के अनन्त क्रम के साथ रखकर उन्हे विस्तार देता है। प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के

लिए उसने कहीं प्राचीनतम पद्धति भी स्वीकार की है, जो एक रूप-व्यापार को दूसरे व्यापार और कहीं उन सुनिश्चित है सभी और वस्तुओं गुण-दुर्गों को आकार बनाने के लिए उसने प्रकृति में ऐसा आरोपण किया जिससे उसका एक-एक स्पन्दन प्रकृति में अनेक प्रतिध्वनियाँ जगाने लगा। कहीं प्रकृति उसके अपने भावों की परिभाषा ही नहीं, चित्र भी बन जाती है—

इन्दु-विचुम्बित बाल जलद-सा मेरी आशा का अभिनव।—पन्त

और कहीं वह अपनी तन्मयता में यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपों से मिलते-जुलते भावों के दूसरे नाम हैं अतः एक की संज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

झंझा झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला !—प्रसाद

सर्ववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप में न बड़ी है न छोटी, न लघु है न गुरु। जैसे अंगों की अनुभूति के साथ शरीर की अखण्डता का बोध रहता है और शरीर की अनुभूति के साथ अंगों की विभिन्नता का ज्ञान, वैसे ही सर्ववाद में विविधता स्वतन्त्र रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अतः छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही एक विराट् रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं, और एक व्यापक जीवन में स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण-परिचय के लिए जीवन अपना रंगमय भावाकाश दे डालता है।

दुलकते हिम जल से लोचन
अधखिला तन अविला-मन
धूलि से भरा स्वभाव-दुकूल
मृदुल-छवि पृथुल सरलपन;
स्वविस्मित से गुलाब के फूल
तुम्हीं सा था मेरा बचपन !—पन्त

आदि में गुलाब के विस्मित जैसे अधखिले फूल और मनुष्य के शैशव का जो एक चित्र मिलता है, वह अपनी परिधि में प्रकृति और जीवन का रूप-दर्शन ही नहीं स्पन्दन भी घेरना चाहता है; अतः भाव-चित्र ही रूप-गीत हो जाता है।

छायायुग के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका से अंकित हुए हैं, इसी से उनमें एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है। 'वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी' में विधवा की दीप्त करुणा, 'चला, आ रहा मौन धैर्य सा' में मनु के पुत्र का सशक्त व्यक्तित्व, 'वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं' में श्रद्धा की व्यथाजनित जड़ता आदि, इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

प्रकृति और जीवन के तादात्म्य के कारण छायावाद के प्रेम-गीतों के भाव में 'संग में पावन गंगा-स्नान' की पवित्रता और रूप में 'गूढ़ रहस्य बना साकार' की व्यापकता आ गयी।

नारी का चित्र मानो स्वयं प्रकृति का चित्र है—

तुम्हीं हो स्पृहा अश्रु औ, हास, सृष्टि के उर की साँस; —पन्त

वह कामायनी जगत की मंगलकामना अकेली

में जो मंगलमयी शक्ति है, उसके सौन्दर्य के प्रति भी कवि सजग है—

स्मित मधुराका थी, श्वासों में पारिजात-कानन खिलता;

और इस सौन्दर्य को संकीर्ण बना लेने की प्रवृत्ति का भी उसे ज्ञान है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र,
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल-पात्र !

इस विकृति के कारण की ओर भी संकेत स्वाभाविक है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की !—प्रसाद

छाया-युग के भावगत सर्ववाद ने नारी-सौन्दर्य के प्रति कवि की दृष्टि में वही पवित्र विस्मय और उल्लास भर दिया था जिसमें

सरल शिशिर-धौत पुष्प देखता है एकटक किरण-कुमारी को !—निराला

तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण भी इस प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ; क्योंकि उस जागृति के सूत्रधार व्यावहारिक धरातल पर ही नहीं, जीवन की सूक्ष्म व्यापकता में भी नारी के महत्त्व का पता पा चुके थे। दीर्घकालीन जड़ता के उपरान्त भी जब वह मुक्ति के आह्वान मात्र पर अशेष रक्त तोल देने के लिए आ खड़ी हुई, तब राजनीति, समाज, काव्य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य में उसका ऐसा भावगत चित्रण कहाँ तक उपयुक्त था, यह प्रश्न भी सम्भव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में, उस समय तक बहुत-से आन्दोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमा-रेखाओं को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विशेष दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियों ने उसे अपने भावजगत् में जैसी मुक्ति दी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विशेष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत संकीर्ण बनाकर देखने-देखने वह संकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि में रखकर देखना, उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौन्दर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हो गया, जिसने उसके मानसिक जगत् में छिपी संकीर्णता को ढाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्वाभाविक थी, इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और संस्कृति का बहुत विस्तृत और अटूट क्रम है। यदि आदिम अन्धकार में भी पुरुष अपने पार्श्व में खड़ी नारी की रूपरेखा प्रकृति में देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक धरातल पर ठहरने में समर्थ हो गया, तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा चमत्कार न करेगी। वास्तव: यह दृष्टि इतनी भारतीय रही कि जीवन में अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव में नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पड़ा, पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशिष्ट शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छायायुग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ न प्राप्त कर सकी हो, पर उसकी शक्ति ने पुरुष की वासना-स्थूलताओं दृष्टि को एक दीर्घ

काल तक जहाँ का तहाँ ठहरा दिया—इसी से आज का क्षुद्रतामययथार्थवादी पुरु
पर आघात किये बिना एक पग बढ़ने का भी अवकाश नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौन्दर्य में ही अनुभूति सहज है, अत:
सौन्दर्य को इतिवृत्त बनाकर कहने का प्रयास नहीं करता। विशेषत: उस युग के कला
के लिए यह और भी कठिन है, जब बाह्य विषमताएँ पार कर आन्तरिक एकता स्
करना ही लक्ष्य रहे। जिन कारणों से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को क
रेखाओं से मुक्त करके, उसमें सामञ्जस्य की खोज की, उसी कारण से वह नारी को
कठोर यथार्थ में बाँधकर काव्य में स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नहीं, क्योंकि हमारे काव्य का ए
महत्त्वपूर्ण अंश ऐसी अभिव्यक्तियों पर आश्रित है। वेद-गीतों की एक बहुत बड़ी संख्या आत्
बोध और स्वानुभूत उल्लास-विषाद को स्वीकृति देती है। संस्कृत और प्राकृत काव्यों में
रचनाएँ अशेष माधुर्यभरी हैं, जिनमें दृश्य-चित्रों के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये ग
हैं। निर्गुण-काव्य में आदि से अन्त तक, स्वानुभूत मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगु
भक्तों के गीत-काव्य में सुख-दु:ख, संयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने जो मर्मस्पर्शित
पायी है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जाएगा। सब प्रकार की अलंकारिता से शून्
सरल लोकगीतों में जो अन्तरतम तक प्रवेश कर जानेवाली भावतीव्रता है, वह भी स्वानु
भूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में भाव रूप चाहता है, अत: शैली का कुछ संकेत
मयी हो जाना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्त्वचिन्तन का बहुत विका
हो जाने के कारण जीवन-रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए एक संकेतात्मक शैली बहुत पहले
बन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सबने ऐसी शैली का प्रयोग
किया है, जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक
पहुँचा सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शैलियों में अन्तर है, परन्तु यह अन्तर रूपगत
है, तत्त्वगत नहीं; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल
खोजती रही है।

कल्पना के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से घनिष्ठ, ठोस
धरती चाहती है। प्राय: परिचित और प्रिय वस्तुओं से सम्बन्ध रखने के कारण उसका
विदेशीय होना सहज नहीं। विशेषत: प्रत्येक कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन
तथा वातावरण के प्रति इतना सजग संवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना उसके ज्ञान
और अनुभूतियों की चित्रमय व्याख्या बन जाती है।

प्रकृति के सौन्दर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहले-
रुपहले रंगों में रँग दिया था, वे तब से आज तक धुल नहीं सके। सभ्यता के प्रारम्भ
में ही यहाँ के तत्त्वदर्शक के विचार और अनुभूतियाँ में कितने चटकीले रंग उतर आये थे,
इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएँ देती हैं।

है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुन्धरा आदि संज्ञाओं में जगमगाती है। भाषा का सम्पूर्ण कोष स्वर्ण-रजत के रंगों से उद्भासित और असख्य रूपों से समृद्ध है।

इस समृद्धि का श्रेय यहीं की धरती को दिया जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के जमे हुए समुद्र को कोई रत्नाकर की संज्ञा देने की भूल नहीं करेगा, बर्फीली ठण्डी धरती को कोई वसुन्धरा कहकर पुलकित न होगा।

इन समृद्ध और विविध कल्पनाओं का क्रम अटूट रहा है। जब तपोवनवासी आदि कवि 'शालयः कनकप्रभा' कहकर धान की बालों का परिचय देता है, तब कालिदास जैसे कवियों की समृद्ध कल्पना के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ है। जब निर्गुण का उपासक फकीर 'रवि ससि नखत दिपैं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती' कहकर अपने आराध्य का ऐश्वर्य प्रकट करता है, तब सगुण-भक्तों की कल्पना के वैभव का अनुमान सहज है।

कल्पना का ऐश्वर्य लोकगीतों में भी ऐसा ही निरन्तर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आँसू को मोती के समान माना है, पर आज की ग्रामीण माता भी गाती है—मोती ढरकै जब लालन रोवै फुलझरियन जैसी किलकनियाँ।' मोती ढुलकते हैं जब उसका शिशु रोता है और फुलझड़ियों जैसी उसकी किलकारियाँ हैं। कोई ऐसा जीवन-गीत नहीं जिसमें ग्रामवधू सोने के थाल में भोजन परोसकर और सोने की झारी में गगा-जल भरकर अपने पति का सत्कार नहीं करती। इन कल्पनाओं के पीछे जो संस्कार हैं, वे किसी प्रकार भी विदेशीय नहीं।

आज की दरिद्रता हमें अपनी धरती या प्रकृति से नहीं मिली, हमारी दुर्बलता का अभिशाप है, अतः काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है, तब कल्पना में सूक्ष्म रेखाओं का बाहुल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा।

छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीथ है, अतः कलाएँ बहुरंगी और विविधरूपी हैं। पर वैभव की दृष्टि से वह आज के यथार्थ के कितने निकट है, यह तब प्रकट होता है जब छायायुग का स्वप्नद्रष्टा गाता है—

प्राची में फैला मधुर राग

जिसके मण्डल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।—कामायनी

और यथार्थ का नया उपासक कहता है—

मरकत-डिब्बे सा खुला ग्राम जिस पर नीलम नभ आच्छादन।—ग्राम्या

छायावाद को दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है, उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणभाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।

करुणा हमारे जीवन और काव्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रखती है। वैदिक काल ही में एक ओर आनन्द-उल्लास की उपासना होती थी और दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक करुण-भाव भी विकास पा रहा था। एक ओर यज्ञ-सम्बन्धी पशुबलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रवृत्ति ने आगे

विकास पाकर जैन-धर्म के मूल सिद्धान्तों को रूपरेखा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित संसार का सबसे बड़ा करुणा का धर्म भी इसी प्रवृत्ति का परिष्कृत फल कहा जायगा।

काव्य ने भी करुणा को विशेष महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यों में से एक को करुण-भाव से ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने संघर्ष के अन्त में करुण-भाव ही में चरम परिणति पा लेता है। संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों में भी कवि अपने इस संस्कार को नहीं छोड़ता। भवभूति तो करुणा के अतिरिक्त कोई रस ही नहीं मानता और कालिदास के काव्यों में करुणा श्वासोच्छ्वास के समान मिली हुई है। अग्निवर्ण के दुखद अन्त में समाप्त होने वाला रघुवंश, जीवन के सब उल्लास-उमंगों की राख पर दुष्यन्त से साक्षात् करनेवाली शकुन्तला यदि करुण-भाव न जगा सकें तो आश्चर्य है।

हमारे इस करुण-भाव के भी कारण हैं। जहाँ भी चिन्तन-प्रणाली इतनी विस्तृत और जीवन की एकता का भावन इतना सामान्य होगा, वहाँ इस प्रकार का करुण-भाव अनायास और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी, तब उसका बाह्य अन्तर, पग-पग पर असन्तोष को जन्म देता रहेगा।

परम तत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही, निर्गुण-सगुण-वादियों के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलतः करुणा से सम्बद्ध होगी।

करुणा का रस ऐसा है, जो जीवन की बाह्य रेखाओं को एक कोमल दीप्ति दे देता है; सम्भवतः इसी कारण लौकिक काव्य भी विप्रलम्भ शृंगार को बहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण-भावना व्यक्तिगत सुख-दुःख के साथ मिल जाती है, तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म-रेखा रहती है।

भारतेन्दु-युग में भी हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते-बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुण-भावना की सामग्री के लिए होती है और देश, समाज आदि का यथार्थ चित्रण व्यक्तिगत विषाद को विस्तार देता है। खड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के और अधिक निकट पहुँच जाते हैं। प्रिय प्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला का, नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्रगीतों और सामाजिक चित्रण में व्यक्तिगत विषाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः उसमें करुण-भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में ढलता हुआ अपना दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत दुःख से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव में परिणत जान पड़ती है।

इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आतुर थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उच्छ्वास विषाद की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बन गया।

समष्टिगत जीवन की बाह्य स्थिति और आन्तरिक विषमता की अनुभूति ने

उत्पन्न करुण-भाव जो रूप पा सकता था, वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। वर्णनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदन-शीलता को व्यक्त करती, वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में, उसका वैयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विषाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देनेवाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर थकने लगे।

'कामायनी' में बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन में सामञ्जस्य लाने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत संस्कार है, क्षणिक उत्तेजना नहीं। इस सामञ्जस्य का संकेत सब प्रतिनिधि रचनाओं में मिलेगा।

करुण-भाव के प्रति कवियों का झुकाव भारतीय संस्कार के कारण है, पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियों से मिल सका।

> **कौन प्रकृति के करुण काव्य सा वृक्ष पत्र की मधुछाया में,**
> **लिखा हुआ सा अचल पड़ा है अमृत सदृश नश्वर काया में ?**—प्रसाद
> **विश्व-वाणी ही है क्रन्दन विश्व का काव्य अश्रु कन।**—पंत
> **मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर!** —निराला

इस विषाद में व्यक्तिगत दुःखों का प्रकटीकरण न होकर उस शाश्वत करुणा की ओर संकेत है, जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि ने इस तरल सामञ्जस्य को भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया है, पर वे इसे पूर्णतः भूल नहीं सके।

व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकीं, पर वे छायायुग के सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावन ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया। धर्म और समाज के क्षेत्र में विधि-विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामयिक प्रभाव के कारण कवि के लिए, रहस्य-सम्बन्धी साधनापद्धति को अपनाना सहज नहीं था; पर सामञ्जस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर करुणा का ऐसा अन्तरिक्ष बुन दिया, जिसकी छाया में दुःख ही नहीं सुख के भी सब रंग बनते-मिटते रहे।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायायुग की करुणा में एक रहस्यमयी स्थिति पायी। जैसे परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रन्दन व्यापक है, वैसे ही राष्ट्रतत्त्व की मुक्ति में अपनी मुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है।

किसी भी युग में एक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं हो जातीं, गौण रूप से विकास पाती रहती हैं। छायायुग में भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत सी प्रवृत्तियाँ अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकीं, जिनमें से अनेक अब अधिक स्पष्ट रूप में अपना परिचय दे रही हैं। स्वयं छायावाद तो करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है। इस रूप में उसका किसी विचारधारा या भावधारा से विरोध नहीं, वरन् आभार ही अधिक है, क्योंकि भाषा, छन्द, कथन की विशेष शैली

आदि की दृष्टि से उसने अपने प्रयोगों का फल ही आज के यथार्थवाद को सौंपा है।

इस आदान में तो यथार्थोन्मुख विचारधारा का असहयोग नहीं, वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौन्दर्य पर आघात करना चाहती है, जो इस देश की सांस्कृतिक परम्परा की धरोहर है। जब तक इस आकाश में अनन्त रंग हैं, इस पृथ्वी पर अनन्त सौन्दर्य है, जब तक यहाँ की ग्रामीणा कोकिल-काग से संदेश भेजना नहीं भूलती, किसान चैती चाँदनी और आकाश की घटाओं को मूर्तिमत्ता देना नहीं छोड़ता, तब तक काव्य में भी यह प्रवृत्ति रहेगी। छायावाद का भविष्य केवल यथार्थ के हाथ में भी नहीं, क्योंकि वह इस धरती और आकाश से बँधा है।

पिछले अनेक वर्षों की विषम परिस्थितियों ने हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला है। कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित करता रहे, तो जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा। उसे सामञ्जस्य की ओर चलना है, अतः जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ, उनका सांस्कृतिक मूल्य, उन मूल्यों का आज की परिस्थिति में उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी यात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है।

केवल पुरातन या नवीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नहीं हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पड़ा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति में सरल सौन्दर्य ही नहीं, मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते हैं माताओं के वक्षःस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के अधरों पर अपनी मुस्कान !—निराला

विशेषताएँ

जयशंकर 'प्रसाद'

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार—

व्यतिषजति पदार्थान्तर कोऽपि हेतु
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते॥

बाह्य उपाधि से हटकर आन्तरहेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दों में भिन्न प्रकार से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ-द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग

में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी-भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। (शब्दस्य ही वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८) कुन्तक के मत में ऐसी भणिति 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी' होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह उज्ज्वला छायातिशयरमणीयता (१३३) वक्रता की उद्भासिनी है—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्॥ ३४॥—२ उन्मेष व० जी०।

कभी-कभी स्वानुभव-संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग उस छायामयी वक्रता का कारण होता है—वे आँखें कुछ कहती हैं।

अथवा—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थरायाः
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति॥

किन्तु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया—

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की दीप्ति ही है, घूंघटवाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में एक स्थान पर लिखा है—

परां दुर्लभां छायां [illegible] यान्ति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना

भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इसी तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था। 'निरहंकार मृगांक' 'पृथ्वी गतयौवना', 'संवेदनमिवाम्बर,' मेघ के लिए 'जनपदवधूलोचनैः पीयमानः' या कामदेव के कुसुम-शर के लिए 'विश्वसनीयमायुध' ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सदृश्य को प्रकट करने वाले हैं। और भी—

आर्द्रं ज्वलित ज्योतिरहमस्मि मधुनक्तमुषसि मधुमत् पार्थिवं रजः इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यंजनाएँ बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिर-निःस्पन्दता का अनुभव किया था—

> शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः।
> प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनन्दवर्धन ने कहा है—

> तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः (२-२६)

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए, तो कुछ लोग चौंके सही, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब 'वहति विकल कायो न मुंचति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुकरण किया। कुन्तक के शब्दों में 'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य, नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

दार्शनिक पीठिका

शम्भूनाथसिंह

महायुद्ध के बाद हिन्दी-कविता की धारा ऐसे नये मार्ग से बहने लगी जिसे हिन्दी-साहित्य ने इसके पहले नहीं देखा था। अनेक तरह की भाव-भूमियों और सम-विषम विचार-क्षेत्रों से होकर वह धारा बही। इस धारा में सबसे गहरा रंग छायावाद-रहस्यवाद का था। और इसी कारण नये युग का नाम ही छायावाद-युग पड़ गया। छायावादी कविता की विचारधारा का उद्गमस्थान दर्शनों की घाटियाँ हैं। अतः नये कवियों की दार्शनिक प्रेरणा के उद्गम-स्थलों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

कवि भी उसी सत्य का उद्घाटन करता है जिसका दार्शनिक, किन्तु दोनों के साधन और प्रयोगों में मौलिक अन्तर होता है। दार्शनिक और कवि एक नहीं होते, फिर भी दोनों एक ही चित्र के दो पहलू हैं। दार्शनिक बुद्धि-क्षेत्र से होकर अपना मार्ग निर्माण करता हुआ अपने अन्तिम लक्ष्य—सत्य—तक पहुँचता है, कवि हृदय-क्षेत्र की सीमा के भीतर अन्तर्लोक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्यों को परख कर उनका उद्घाटन करता है। दार्शनिक चिन्तनलोक का निवासी है और कवि भावलोक का। किन्तु जीवन में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का लक्ष्य एक ही है पर मार्ग अलग-अलग है। नानात्व में एकत्व की खोज दोनों करते हैं किन्तु एक का प्रकाश-दीप बुद्धि है और दूसरे का पथ-प्रदर्शक हृदय। इसी से दोनों की सीमाएँ मिली रहती हैं और दोनों कभी-कभी एक-दूसरे की सीमारेखा का उल्लंघन करते हुए पाये जाते हैं। कवि भी एक सीमा तक दार्शनिक होता है और दार्शनिक भी कुछ अर्थों में कवि होता है। कवि के दर्शन का आधार स्पन्दनशील जीवन है और दार्शनिक के दर्शन का आधार सत्य की खोज। कवि का दर्शन जब जीवन की अनुभूतियों में रूप, कल्पना से रंग और भावनाओं से सौन्दर्य ग्रहण करके सजीव हो उठता है, तब उसे कविता कहते हैं। कवि का यह दर्शन सापेक्ष होता है, निरपेक्ष या निस्सग नहीं। वह जीवन के अस्तित्व को शून्य मानकर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। जीवन के प्रति उसकी आस्था ही उसका दर्शन है। किन्तु उसका यह जीवन-दर्शन दार्शनिक के सत्यों के मेल में ही रहता है, उनका विरोधी नहीं। कवि की यह दार्शनिकता या तत्वज्ञान कभी तो प्रातिभ और अनुभूत होता है और कभी पठित और अर्जित। यह अर्जित ज्ञान बहुधा उसे दार्शनिक से ही प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति में एक ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि यहाँ साहित्य और कला का धर्म से अलग स्थान नहीं था। वस्तुतः यहाँ धर्म को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में

प्रधान स्थान दिया गया। जीवन और धर्म परिच्छिन्न थे। वैदिककाल से लेकर आज तक के भारतीय वाङ्मय में यह आध्यात्मिक धारा बहती हुई दिखायी पड़ती है। यह दूसरी बात है कि किसी युग में इसकी गति स्पष्ट, तीव्र और व्यापक है और किसी में क्षीण, प्रच्छन्न और सीमित। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के बाद उक्त आध्यात्मिक स्पन्दन भक्तिकाल की कविता में स्पष्ट और व्यापक रूप में लक्षित हुआ था। कालगति में वह स्पन्दन रीतिकाल में फिर रुक-सा गया। द्विवेदी-युग में उसे जागृत करने की भूमिका तैयार हुई और छायावाद-युग में, जो राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना का काल था, कला की धारा में वह समन्वयात्मक अध्यात्म पुनः स्पन्दित हो उठा।

रहस्यवाद—छायावाद-युग की आध्यात्मिक रंग में रँगी कविता की प्रधान धारा रहस्यवाद है। रहस्यवाद परमसत्ता का बोध और साक्षात्कार है। प्रसाद के अनुसार "इसमें अपरोक्ष की अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।" यह आध्यात्मिक अनुभूति की वह अवस्था है जिसमें साधक परमात्मा के मिलन का चरम प्रयास करता है। यह क्रिया कई साधना-पद्धतियों से सम्पन्न होती है। अहं (आत्मा) और इदं (जगत्) का समन्वय तभी हो सकता है जब साधक की दृष्टि आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म हो और उसकी अनुभूति परिपक्व हो गयी हो।

रहस्यवाद साधना के विविध-मार्ग ग्रहण करके अनेक रूपों वाला हो गया। भक्ति-सिद्धान्त के आधार पर मानव-हृदय की विविध प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति; दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर आत्मा, परमात्मा और जगत् के नित्य-सम्बन्धों की काव्यात्मक व्याख्या; एक ही पारमार्थिक सत्ता का समस्त व्यक्त जगत् के जड़-चेतन सभी रूपों में दर्शन; परमात्मा की माधुर्यभावनायुक्त उपासना तथा जगत् को दुःख का आधार मानकर परमात्मा से आत्मा के आध्यात्मिक विरह की उद्भावना—ये कुछ पद्धतियाँ हैं जिनमें रहस्यवाद की भावना अभिव्यक्त हुई। इस ढंग की कविता लिखने वालों में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और माखनलाल चतुर्वेदी प्रमुख हैं। उनके प्रेरणाधार वे विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त तथा उपासना-पद्धतियाँ हैं जो वैदिक काल से भक्तिकाल तक भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र मिलती हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का काल सांस्कृतिक पुनरुत्थान का काल है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा बँगला के रहस्यवादी कवि रवीन्द्रनाथ का जबर्दस्त प्रभाव नयी पीढ़ी के कवियों पर पड़ा। आर्यसमाज वेदों पर जोर दे रहा था, स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त के सिद्धान्तों को लिया, साथ ही भक्ति, योग और कर्म को भी अपनाया। स्वामी रामतीर्थ ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद को ग्रहण करके भक्ति और प्रेम के मार्ग को प्रधानता दी। लोकमान्य तिलक ने विद्वत्तापूर्ण 'गीता-रहस्य' लिखकर शिक्षित जनता को उपनिषदों और दर्शनों के ज्ञान की ओर प्रवृत्त किया। महात्मा गांधी ने अहिंसा-मार्ग को अपनाकर तथा 'गीता' के कर्मयोग को ग्रहण करके न

केवल अपने, बल्कि सारे राष्ट्र के जीवन को उसी मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न किया। पुरातत्त्व-विभाग ने अपने प्रयत्नों से बौद्ध-धर्म की अनेक अज्ञात बातों को प्रकट कर दिया था। इन सब प्रभावों के कारण वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, षड्दर्शनों, गीता, शैव तथा बौद्ध दर्शनों का अध्ययन किया जाने लगा। जयशंकर प्रसाद ने इन सबका गहन अध्ययन किया था। उस काल के सभी सचेत कवियों—निराला, पंत, महादेवी आदि ने उपनिषदों और वेदान्त का अध्ययन किया। उन पर बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। निराला मस्तिष्क से तो अद्वैतवादी हैं किन्तु हृदय से भक्त और प्रेमवादी। यह रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द का प्रभाव है। प्रसाद पर उपनिषदों, काश्मीर के आगमवादियों के शैव-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का काफी प्रभाव पड़ा है। पन्त पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त रविबाबू और हिन्दी के पुराने निर्गुण-पंथी कवि कबीर आदि तथा मीरा का अव्यक्त प्रभाव तो सभी कवियों पर दिखलायी पड़ता है। पश्चिम का दार्शनिक सिद्धान्त तो प्रारम्भ में अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि वर्ड्सवर्थ, शैली और कीट्स के सर्ववाद के रूप में ही आया। किन्तु बाद में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, क्रान्ति और कविताओं में स्पष्ट रूप से गृहीत हुआ। कहना न होगा कि पन्त जी ने पाश्चात्य दर्शन का सम्यक् अध्ययन किया और उनकी कविता का नवीन विकास उसी का परिणाम है।

वेदों में ईश्वर की भावना—प्राचीन आर्यों ने आदिकाल में ही सम्पूर्ण सृष्टि में क्रियाशील प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप में ग्रहण किया था। देवताओं या चिन्तन के विषयों की व्यंजना इन्हीं रूपकों से युक्त आम्नायों के रूप में हुई है। देवताओं की स्तुतियों में रूपक की भाषा का प्रयोग कर जो हृदयोद्गार प्रकट किये गए हैं वे वास्तव में अनुभव के जीवित चित्र हैं। स्तुति न तो कोरी भक्तिभावना थी न अन्धविश्वासजनित कर्मकांड, प्रत्युत वह एक स्वाभाविक चैतन्य का अनुभव मात्र था, जिसके सहारे सुन्दर प्रकृति के आँगन में शान्ति और सुखों के अभिलाषी ऋषियों ने अपने कर्मरत जीवन को परोक्ष सत्ताओं के साथ संयुक्त करने का प्रयत्न किया। मूर्त जगत् की सभी विराट्‌सी सत्ताओं ने उनका ध्यान आकर्षित किया। यह बात भी ध्यान देने की है कि उस काल की परिस्थितियों और जीवन ने प्रकृति के साथ तादात्म्य का अनुभव करने और उस पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप करने की तत्कालीन मानव-समाज को अनेक तरह की सुविधाएँ दी थीं। फलत. वैदिक ऋचाओं में उषस्, मरुत् आदि को चेतन-व्यक्तित्व प्रदान किया गया।

उन चित्रों को देखकर आज का सौन्दर्य-प्रेमी कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। निराला ने अपनी 'बादल-राग' शीर्षक कविता में कहा—

ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम-अगम अनर्गल बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मन्द चंचल समीर-रथ पर उच्छृंखल
ऐ उद्दाम ! अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित विराट ! —(परिमल)

और भाषा के उसी सनातन सौन्दर्य ने पंत के प्राणों को मुखरित किया—

तुम नील वृन्त पर नभ के जग, ज्यों गुलाब सी खिल आईं,
अलसाई आँखों में भर कर जग के प्रभात की अरुणाई।
... ...
जग के प्रदीप में जीवन की लौ सी उठ नव छवि फैलाई।—उषा-वंदना

जिज्ञासा की भावना—मन्त्रकाल में ही व्यक्त-जगत् के बीच अनेक रूपों और क्रियाओं में अभिव्यक्त प्राकृतिक शक्तियों के परिचय की जिज्ञासा या अभिलाषा भावुकता-पूर्ण ढंग से की जाने लगी। अथर्व के द्रष्टा ने जिज्ञासा की थी—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन॥

वायु क्यों बेचैन हो रहा है? मन किसी एक स्थान में क्यों नहीं रमता? किस सत्य को प्राप्त करने के निमित्त जल सतत प्रवाहमान रहता है?

यही जिज्ञासा की भावना निराला की 'गीतिका' में अभिव्यक्त हुई है—

कौन तम के पार!—(रे कह)
... ...
उदय में तम-भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन
निशा-प्रिय-उर शयन सुखधन
सार या कि असार?—रे कह
बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मंगल
द्रवित जल नीहार?—(रे कह)

महादेवी ने भी उसी अज्ञेय को जानने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की—

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पथ से युग-कल्प उसका छोर क्या है?

और वह को उस अज्ञात सत्ता का आकर्षण भाग और मौन निमन्त्रण देता प्रतीत होता है। उनकी जिज्ञासा गीति कविता में अथर्व का यह ऋषि ही बोल उठा है—

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल-चंचल?

उपनिषदों में रहस्यवाद—वेदों के बाद उपनिषदों में, जो वेदान्त के आधार कहे जाते हैं, उस अगोचर सर्वव्यापी अनन्त सत्ता के विषय में सन्देह की स्थिति समाप्त हो चली थी। यद्यपि उनमें रहस्य-भावनाओं की विद्यमानता है जो वेदों में भी यत्र-तत्र मिलती दिखती है, किन्तु उनकी मूल धारा अद्वैतवाद की ही है। रहस्यवाद की जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं उन सब का मूल स्रोत उपनिषदों में दिखायी पड़ता है। उपनिषदों में ईश और

अद्वैत दोनों विचारधाराएँ मिलती हैं और ब्रह्म से जीव की अभिन्नता स्थान-स्थान पर दिखायी गयी है। उसी परम प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित है और उसी चेतन से जगत् अनुप्राणित है, यह विचार-धारा भी प्रतिपादित की गयी है। ये सभी विचारधाराएँ वर्तमान युग की रहस्यवादी कविता में परिलक्षित होती हैं। कवि उसी का प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ देखता है—

> गई निशा वह, हँसीं दिशाएँ, खुले सरोरुह, जगे अचेतन।
> बहो समीरण, जुड़ा नयन मन, उड़ा तुम्हारा प्रकाश केतन ॥—(गीतिका)

सांख्य और वेदान्त की चिन्ता-धारा—उपनिषद्-काल मे ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा से यज्ञों की प्रधानता नष्ट हो गई और तार्किकों की श्रेणियाँ एक के बाद दूसरी बनती गईं। इनमे सांख्य-सिद्धान्त की परम्परा तो बहुत पुरानी थी। उसमे ज्ञान द्वारा सत् और असत् के पार्थक्य का चिन्तन किया गया और पुरुष और प्रकृति को ही नित्य पदार्थ माना गया; पुरुष का रूप निष्क्रिय, उदासीन रखा गया और प्रकृति को कर्मशील कहा गया। साथ ही सुख-दुःख दोनों से मुक्ति पाने की बात भी कही गयी। वेदान्त मे 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा हुई। वह सच्चिदानन्दस्वरूप, और जगत् का कर्ता आदि माना गया। अद्वैतवादियों ने जगत् को 'विवर्त' या मिथ्या बतलाया। उन्होंने सोऽहम्वाद के साथ जगत् के मिथ्यात्व का विचार जोड़ने मे स्वप्न या माया या अविद्या का सहारा लिया। रहस्यवाद मे इस स्वप्न या माया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रहस्यवादी कवियों के अतिरिक्त सगुण-भक्ति के कवियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। कबीर, जायसी और अन्य निर्गुणपन्थी कवियों मे तो अद्वैतवाद के सभी सिद्धान्तों के साथ मायावाद प्रतिष्ठित है ही, मीरा, सूर, तुलसी मे भी वह विद्यमान है और आधुनिक युग मे निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी, सभी रहस्यवादी कवियों ने माया और स्वप्न के अद्वैतवादी रूप को किसी-न-किसी रूप मे ग्रहण किया है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कह-कर ब्रह्म, जगत् और जीव के संबंध में जो धारणा स्थिर की गयी उसका प्रभाव भारतीय काव्य-साहित्य पर सर्वत्र दिखायी पड़ता है। सूफियों के प्रतिबिम्बवाद और यूनानी सर्ववाद में भी यही पायी जाती है। वर्तमान हिन्दी-कवियों के रहस्यवाद मे सबसे गहरा रंग इसी सर्वेश्वता और सर्ववाद का ही है। अपनी 'सौर-मंडल' कविता मे पंत यही भावना व्यक्त करते हैं—

> चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय, चिन्मय प्रकाश में विकसित लय।
> रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, ताराचय, जग-जग प्रकाशमय है निश्चय।
> वह विश्वात्मा रे जग-जग का, वह अखिल चराचर का समुदय।

बौद्ध-दर्शन का दुःखवाद—बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद का अनेक आधुनिक कवियों पर प्रभाव पड़ा है किन्तु जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा पर यह प्रभाव अधिक है। महादेवी की समस्त काव्यभूमि इसी करुणा की धारा से सिंचित है। किन्तु बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद से ही ये कवि प्रभावित हुए हैं, उसके निर्वाणसिद्धान्त से नहीं, क्योंकि ये कवि आत्मवादी हैं, अनात्मवादी नहीं। महादेवी दुःख में अज्ञात प्रियतम को देखती हैं—

> तुमको पीड़ा में खोजा, तुममें खोजूँगी पीड़ा।

और प्रसाद करुणा का अभिनंदन करते हैं—

ओर भाषा के उसी सनातन सौन्दर्य ने पंत के प्राणों को मुखरित किया—

तुम नील वृन्त पर नभ के जग, ज्यों गुलाब सी खिल आईं,
अलसाई आँखों में भर कर जग के प्रभात की अरुणाई।
... ...
जग के प्रदीप में जीवन की लौ सी उठ नव छवि फैलाई।—उषा-वंदना

जिज्ञासा की भावना—मन्त्रकाल में ही व्यक्त-जगत् के बीच अनेक रूपों में क्रियाओं में अभिव्यक्त प्राकृतिक शक्तियों के परिचय की जिज्ञासा या अभिलाषा भावुकतापूर्ण ढंग से की जाने लगी। अथर्व के द्रष्टा ने जिज्ञासा की थी—

कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन॥

वायु क्यों बेचैन हो रहा है? मन किसी एक स्थान में क्यों नहीं रमता? किस सत्य को प्राप्त करने के निमित्त जल सतत प्रवाहमान रहता है?

यही जिज्ञासा की भावना निराला की 'गीतिका' में अभिव्यक्त हुई है—

कौन तमके पार !—(रे कह)
... ...
उदय में तम-भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन
निशा-प्रिय-उर शयन सुखधन
सार या कि असार ?—रे कह
बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मंगल
द्रवित जल नीहार ?—(रे कह)

महादेवी ने भी उसी अज्ञेय को जानने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की—

तोड़ दो यह क्षितिज में भी देख लूं उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प उसका छोर क्या है ?

ओर पंत को उस परोक्ष सत्ता का आकर्षण चारों ओर मौन निमन्त्रण देता प्रतीत होता है। उनकी 'जिज्ञासा' शीर्षक कविता में अथर्व का वह कवि ही जैसे गा उठा है—

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल-चचल ?

उपनिषदों में ब्रह्मवाद—वेदों के बाद उपनिषदों में, जो वेदान्त के अन्तर्गत कहे जाते हैं, उस परोक्ष सर्वशक्तिसम्पन्न सत्ता के विषय में सन्देह की स्थिति समाप्त हो चली थी। यद्यपि उनमें साख्य-आगमों की विद्यमानता है जो वेदों में भी यत्र-तत्र मिलती है, किन्तु उनकी मूल धारा एकेश्वरवाद की ही है। रहस्यवाद की जो अनु

जिससे कन-कन में स्पंदन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुणा का नव अभिनंदन हो
वह जीवन-गीत सुना जा रे!

शैवागम का आनन्दवाद—आनन्दमूल अद्वैतवाद में जगत् को मिथ्या मानकर दुःखवाद से उत्पन्न सन्यास और विराग की आवश्यकता न थी। यहाँ जगत् से आत्मा की व्यावहारिक अभिन्नता में ही आनन्द की उपलब्धि मानी गयी। शैवागमवादी जगत् में कहीं भी अशिव-अमंगल का दर्शन नहीं करते, इन्द्रियों के विषयों में भी नहीं। वे बाहर-भीतर सर्वत्र 'आनन्दघन शिव' को ही व्याप्त मानते हैं। इस तरह वे समरसता के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं, सुख और दुःख दोनों में आनन्द लेना ही समरसता है। 'कामायनी' में प्रसादजी समरसता के बारे में लिखते हैं—

१. नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान,
 व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान!
२. समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था;
 चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—मार्क्सवाद भौतिकवादी दर्शन है। वह पदार्थ की प्रधानता में विश्वास करता है। पदार्थ परिवर्तनशील है और उसका इतिहास होता है। अतः कोई वस्तु स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं हो सकती। पदार्थ और चेतना के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दर्शन कहता है कि पदार्थ से ही चेतना का विकास होता है। उसके अनुसार भौतिक शक्तियों और मनुष्य के संघर्ष के फलस्वरूप ही सामाजिक जीवन का विकास होता है। वह जीवन के प्रति स्वस्थ, आशावादी तथा सामाजिक दृष्टिकोण है और लोकमंगल की साधना में विश्वास रखता है। इस चिन्ताधारा के सफल कवि पंत हैं उन्होंने 'सृष्टि' नामक कविता में लिखा है—

मिट्टी का गहरा अंधकार, डूबा है उसमें एक बीज!
यह खो न गया, मिट्टी न बना, कोदो-सरसों से क्षुद्र चीज!
बंदी उसमें जीवन-अंकुर जो तोड़ निखिल जग के बंधन
पाने को है निज स्वत्व-मुक्ति, जड़ निद्रा से जगकर चेतन!

छायावादी काव्य में निम्नांकित चिंतनधाराओं की प्रमुखतया अभिव्यक्ति हुई है:

आध्यात्मिक प्रेम—यद्यपि अलौकिक प्रेम की परम्परा हमारे काव्य में पुरानी है पर आधुनिक कविता में कवि की यह आध्यात्मिक प्रेम-भावना अन्य कोमल भावनाओं से अनुरंजित होकर बड़े ही मार्मिक रूप में सामने आयी है। अलौकिक प्रेम भी सामान्य रूप से दो प्रकार का होता है। एक का आलम्बन भक्तोचित साकार मूर्ति होती है और दूसरे । निरा . ८ ब्रह्म। पहले प्रकार के आलम्बन के प्रति साधक का पूज्य-गर्भित प्रेम, जिसे ।-भक्ति कह सकते हैं, होता है। दूसरे प्रकार के आलम्बन के प्रति विशुद्ध प्रेमभाव होता .रे प्रकार का प्रेम, जो उस आध्यात्मिक सत्ता के प्रति होता है जिसका कोई संश्लिष्ट ८ नहीं होता, स्वभावतः रहस्योन्मुख हो जाता है। इसी प्रकार का रहस्योन्मुख

प्रेम, जिसमें औत्सुक्य और जिज्ञासा के साथ-साथ गम्भीर प्रेम का दर्शन होता है, छायावादी काव्य में प्रधानरूप से दृष्टिगोचर होता है।
अपने प्रियतम—परोक्षसत्ता—का आभास कवि को सर्वत्र मिला है—

भरा नयनों ने मन में रूप, किसी छलिया का अमल अनूप,
जल-थल मारुत-व्योम में, जो छाया है सब ओर! —'प्रसाद'

करुणागार भगवान् अपने प्रिय भक्त पर करुणा कर बारबार आकर प्रमपूर्वक उसका कष्ट दूर कर देते हैं—

भर देते हो,
बार-बार प्रिय करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो!
मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कंज बढ़ाकर। —'निराला'

कभी-कभी कवि को अपने अव्यक्त प्रियतम के स्वरूप-दर्शन की कोई विशेष आकांक्षा नहीं रहती। 'हे सागर संगम अरुण नील' से प्रारम्भ कविता में प्रसादजी कहते हैं कि नदियाँ पर्वत से निकलती हैं, सागर से उनका पूर्व परिचय नहीं रहता, पर वे अपने उस प्रिय से मिलने के लिए उत्सुक होकर निरन्तर चलती जाती हैं और अन्त में उनका मिलन होता है। इसी से मिलती-जुलती भावना इन पंक्तियों में है—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें क्या है धरा सुनो!
मानस-जलधि रहे चिर चुम्बित, मेरे क्षितिज उदार बनो! —'प्रसाद'

रामकुमार वर्मा कहते हैं कि मैं अपने प्रिय के नूपुरों का हास हूँ। प्रिय के चरणों के समीप बने रहने की आकांक्षा इन पंक्तियों में है—

मैं तुम्हारे नूपुरों का हास!
लघु स्वरों में बन्द हो पाऊँ चरण में बास।

प्रिय वियुक्त हो गया है, प्रेमी की व्याकुल प्रार्थनाओं पर भी वह न आया, इन भावों को काव्योचित ढंग से बड़े मार्मिक रूप में कवि ने पल्लवित किया है—

मैं ससीम असीम सुख से सींच कर संसार सारा,
सांस की विरदावली से गा रहा हूँ यश तुम्हारा!
पर तुम्हें अब कौन स्वर स्वरकार, मेरे पास लाये!
भूल कर भी तुम न आये। —'रामकुमार वर्मा'

कवि को यह विश्वास है कि अन्ततः एक दिन प्रिय के अंचल में, उसकी गोद में, सारे दुःखों का नाश हो जाएगा—

एक दिन थम जायेगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अंचल में। —'निराला'

प्रेम की उस उच्चदशा का, जब प्रेमी और प्रियतम में भेद-भाव नहीं रह जाता और वे एकाकार हो जाते हैं, मार्मिक वर्णन इस काल की कविता में अधिक मिलता है।

प्रिय तो प्रेमी के हृदय में ही अवस्थित है, फिर परिचय कैसा ?

तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ? —'महादेवी'

माया का निर्मम दर्पण टूट जाने पर कौन साधक और कौन साध्य ? अब तो दोनों मिलकर एकाकार हो गये—

आज कहाँ मेरा अपनापन ?
तेरे छिपने का अवगुंठन ?
मेरा बन्धन तेरा साधन,
तुम मुझमें अपना सुख देखो, मैं तुममें अपना दुख प्रियतम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम
—महादेवी वर्मा

आध्यात्मिक रतिभाव के विविध रूपों और अन्तर्दशाओं की अभिव्यक्ति जिन कविताओं में हुई है वे ही रहस्यवादी कविताएँ कहलाती हैं।

प्रतिबिम्बवाद—चिन्तकों ने परोक्ष और प्रत्यक्ष के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव की कल्पना भी की है। सूफीमत में इसलाम की कट्टरता और एकरसता की प्रतिक्रियास्वरूप प्रतिबिम्बवाद या भावात्मक ज्ञानवाद का प्रारम्भ हुआ जो भारतीय अद्वैतवाद से मिलता-जुलता था। अद्वैतवाद के परमात्मा, आत्मा और माया की तरह ही सूफीमत में हक, बन्दा और शैतान की भी स्थिति है। हक और बन्दा के बीच शैतान व्यवधान की तरह पड़ा है किन्तु प्रेमतत्त्व के द्वारा बन्दा हक से एक हो सकता है। इसके लिए पहले उस परोक्ष सत्ता को जानना आवश्यक है, अतः लौकिक प्रेम के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति होती है। और माया (प्रकृति) के बीच ही वह परोक्ष सत्ता अपना प्रतिबिम्ब, आभास या झलक दिखलाती रहती है जिससे साधक परिचय प्राप्त कर प्रेम की गहराई में उतरता है। प्रेम द्वारा ही वह पूर्णरूप से जाना जा सकता है और उसका पूर्ण परिचय ही उसका मिलन है। सूफी कविता में इसलिए प्रकृति ही नहीं, हृदय भी दर्पण या सरोवर के जल के रूप में माना गया है। आध्यात्मिक मिलन के लिए उन्होंने चेतना को बाधक और सहजज्ञान को साधक माना। अतः सूफी कविता में स्वप्न, विस्मृति, बेहोशी और समाधि या मृत्यु का अधिक महत्त्व है।

छायावादी कविता में भी इस प्रतिबिम्बवाद का प्रभाव दिखलायी पड़ता है। पंत की 'छाया' शीर्षक कविता में यह बात स्पष्ट दिखलायी पड़ जाती है। प्रकृति कवि को परोक्ष की छाया के रूप में दिखलायी पड़ती है जिसे उसने प्रतीक-पद्धति से व्यक्त किया है। वह उसी प्रातिबिम्बिक सत्ता से अपने को मिलाकर अपने आराध्य से मिल जाना चाहता है—

हाँ सखि आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

'शिशु' शीर्षक कविता में कवि शिशु में किसी परोक्ष शक्ति की छाया देखता है—

खेलती अधरों पर मुसकान पूर्व सुधि सी अम्लान,
स्वप्न लोकों में किन चुपचाप विचरते तुम इच्छागतिवान् ?

महादेवी को अपने प्रियतम की झलक सूनेपन और अन्धकार के वातावरण में मिलती है। जगत के कोलाहल और चेतना के प्रकाश से दूर हटकर वे उसके प्रतिबिम्ब का दर्शन भर करना चाहती है—

सजनि कौन तम में परिचित-सा सुधि-सा छाया-सा आता।

अथवा—

मेरे प्रिय को भाता है तम के परदे में आना।

निराला को उस परम तत्त्व की छाया (कान्ति) अंधकार में नहीं, प्रकाश में दिखलायी पड़ती है और वह कवि के हृदय को मिलन के आनन्द से भर देती है—

विश्व-नभ-पलकों का आलोक अतुल यह था हर लेता शोक
ज्योति के कोमल केश अपार खड़ी वह सकल देश-दृग रोक।—(गीतिका)

प्रसाद में यह प्रतिबिम्बवाद और उससे उत्पन्न माधुर्यभाव सबसे अधिक दिखलायी पड़ता है। उनका प्रिय जादूगरनी-सन्ध्या के परदे पर अपना नाट्य दिखलाता है—

छायानट छवि-परदे में सम्मोहन-वेणु बजाता।
संध्या-कुहकिनि-अंचल में कौतुक अपना कर जाता।—(आँसू)

सूफी कवियों की तरह इन कवियों ने भी चेतना को मिलन-क्रिया में बाधक मान कर स्वप्न, विस्मृति, बेहोशी और समाधि या मृत्यु के प्रति आकर्षण प्रकट किया है। महादेवी और प्रसाद में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक दिखलायी पड़ती है। प्रसाद विस्मृति की कामना करते है जिससे प्रिय की झलक सहजज्ञान के रूप में मिल सके—

नीलिमा-शयन पर बैठी अपने नभ के आँगन में।
विस्मृति का नील-नलिन-रस बरसो अपांग के घन में।

और महादेवी का प्रिय स्वप्न में भी प्रकृति में ही प्रतिबिम्बित होकर मिलता है—

अधु मेरे मांगने जब नींद में वह पास आया।
हो गया दिन की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित!

और इसीलिए वे सपनों की ही कामना करती हैं जिसमें वे प्रकृति में घुल-मिलकर एक हो जाएँ—

तुम्हें बाँध पाती सपने में!
मधुर राग बन विश्व सुलाती
सौरभ बन कण-कण बस जाती
भरती मैं संसृति का क्रन्दन हँस जर्जर जीवन अपने में।

निराशावादी बच्चन भी अपने अस्तित्व को मिटाकर प्रकृति में लीन हो जाने की इच्छा प्रकट करते है और पृथ्वी, आकाश, वायु सभी उन्हें निमन्त्रित करते हैं।

कौन मिलनातुर नहीं है?
सर्वव्यापी विश्व का व्यक्तित्व प्रतिक्षण पूछता है
कब मिटेगा बोल तेरा अहं का अभिमान
और तू तो लीन मुझमें फिर बनेगा पूर्ण?—(आकुल अन्तर)

अद्वैत-भावना—शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने ब्रह्म को सत्य और नित्य, जीव को उससे अभिन्न और जगत् को असत् एवं भ्रम बताया। यह भावमय जगत् दुःख का समुद्र है, अतः उन्होंने शुद्धज्ञान द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति को जीव और ब्रह्म की एकता का साधन माना। छायावादी कविता में यह विचारधारा सबसे अधिक निराला में दिखलायी पड़ती है जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने प्रतीक और अन्योक्ति पद्धति द्वारा बार-बार की है—

> पास ही रे हीरे की खान,
> खोजता और कहाँ नादान ?
> कहीं भी नहीं सत्य का रूप
> अखिल जग एक अन्धतम कूप
> ऊर्मि-घूर्णित रे मृत्यु महान।—(गीतिका)

महादेवी वर्मा भी इस जगत् को मायारूपी दर्पण के रूप में स्वीकार करती हैं, जिसका प्रतिबिम्ब सत्य नहीं, भ्रम होता है और बिना उस माया के तिरोभाव के सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता—

> टूट गया वह दर्पण निर्मम !
> उसमें हँस दी मेरी छाया,
> मुझमें रो दी ममता माया,
> अश्रु-हास ने विश्व सजाया,
> रहे खेलते आँखमिचौनी
> प्रिय जिसके परदे में 'मैं' 'तुम'।

इसमें जगत् के दुखों का मूल कारण माया को माना गया है जिसके कारण मोह-ममता, दुख-सुख की उत्पत्ति होती है। यह माया का दर्शन ही ब्रह्म और जीव के बीच परदा डालता है। शांकर अद्वैत की यह विचारधारा अपने शुद्ध रूप में छायावादी कविता में वर्णित नहीं है क्योंकि वह मस्तिष्क बौद्धिक और शुष्क ज्ञान पर आधारित है। उप-निषदों के अद्वैतवाद के साथ अनेक विभिन्न रूप जो विशिष्टाद्वैत, द्वैत और [illegible] के भेद-दर्शन की भावात्मक अभिव्यक्ति भी छायावादी काव्य में स्फुट रूप में मिल-जाती है। निराला पर इन सभी विचारधाराओं का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ा, पर वे कवि [illegible] को अद्वितीय [illegible] मानकर प्रतीत करते हैं, कहीं जीव को ब्रह्म का अंश और पूर्ण मानकर ब्रह्म का [illegible] और पूर्ण मानते हैं, और कहीं भेद-भावना का भी प्रतिपादन करते हैं। कबीर आदि से प्रभावित होने के कारण उन पर [illegible] का बहुत अधिक प्रभाव है जिसे कहीं सूफी, कहीं [illegible], कहीं [illegible], कहीं [illegible] आदि के रूप में पाया है। [illegible] की [illegible] इस तरह की [illegible] है जिसमें उन्होंने [illegible] का पूर्ण रूप चित्रित किया है—

> [illegible]
> [illegible]

ज्योतिर्मय रूप, हस्तदश विविध-प्रस्त्र-सज्जित !
मन्दस्मित मुख लख हुई विघ्न की श्री लज्जित !

इस तरह निराला ने रूढ़िवादी शाक्तमत की दुर्गा-पूजा का समर्थन नहीं किया है बल्कि बंगाल के रामकृष्ण परमहंस, विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द आदि चिन्तकों की तरह जीवनी-शक्ति के प्रति आस्था प्रकट की है।

योग-दर्शन—शक्ति के उपासक का योग-मार्ग की ओर बढ जाना कठिन नहीं है, अतः योग की शब्दावली और विचारधारा का प्रयोग निरालाजी ने किया है·

चक्र के सूक्ष्म छिद्र के पार
वेधना तुझे मीन, शर मार !—(गीतिका)

विशिष्टाद्वैत—तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्‌वास और मैं कान्त कामिनी कविता!—(परिमल)

महादेवी ने भी आराध्य को सदैव प्रियतम ही नहीं, कभी-कभी पूज्य और स्वामी मानकर दास्य-भाव की भी अभिव्यक्ति की है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !

जगत् की अनित्यता—करीब-करीब सभी दर्शनों ने जगत् की क्षणिकता और दुःखमयता को स्वीकार किया है और जगत् से ऊपर उठकर नित्य सत्य की खोज करने का प्रयत्न किया है। छायावादी कवियों ने अतिशय सवेदनशील होने तथा भारतीय दर्शनों के अध्ययन के कारण इन भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। पंत ने नित्य सत्य की खोज में जगत् की अनित्यता का दर्शन किया है और उसके दुःखमय तथा परिवर्तनशील स्वरूप को देखकर व्याकुल हुए हैं—

आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अन्धकार अज्ञात !

जगत् की परिवर्तनशीलता को देखकर उनके मन में यह सहज प्रश्न उठा है कि यह जगत् ऐसा क्यों है। उनका हृदय निराशा और क्षोभ से चंचल हो उठा है और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि परिवर्तन ही सत्य है—

नित्य का यह अनित्य नर्तन,
विवर्तन जग जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन।

वेदना और करुणा—दुःखपूर्ण जगत की इस अनित्यता और क्षणिकता को देखकर दार्शनिक की विवेक-बुद्धि जागृत होती है और कवि की सवेदनशीलता। किन्तु सत्य को और समस्याओं के समाधान को जानने की जिज्ञासा दोनों में समान रूप से होती है, इसीलिए कभी कवि दार्शनिक दिखलायी पड़ता है और कभी दार्शनिक कवि। छायावादी कवियों में सभी ने जगत् की अनित्यता को देखकर परम सत्य की खोज करने की कोशिश की है और विभिन्न रूपों में अपनी मानसिक अनुभूतियों का काव्यात्मक चित्रण किया है—

शत-सहस्र रवि-शशि असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग से तुममें तत्क्षण,
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन अहे विवर्तनहीन विवर्तन !—पन्त

व्यावहारिक जीवन में विषमता और असारता की अनुभूति से करुणा की भावना उत्पन्न होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तिगत अभावों और असफलताओं के कारण उत्पन्न वेदना की अभिव्यक्ति काव्य में उदात्तीकरण के रूप में हुआ करती है। कवि के व्यक्तिगत जीवन की निराशा और वेदना उसे विश्वव्यापी और अनन्त प्रतीत होती है, वह नियतिवादी, दुःखवादी अथवा आदर्शवादी हो जाता है। आध्यात्मिक प्रेम में भी विरह-जनित वेदना ही अधिक दिखलायी पड़ती है, क्योंकि साधक के ससीम और साध्य के असीम होने से मिलन सहज नहीं होता। इस प्रकार काव्य पर वेदना की छाया विविध दिशाओं से विविध रूपों में पड़ी है। पन्त तो कवि के लिए वियोगी और दुखी होना आवश्यक मानते हैं—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
निकलकर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

किन्तु कवि का यह अनुमान सर्वथा सत्य नहीं है। प्रारम्भिक कवि का दुःख वियोग-जन्य नहीं, सृष्टि की असारता और परिवर्तनशीलता के दर्शन के कारण था। स्वयं पंत की 'परिवर्तन' कविता में व्यक्त क्षोभ, निराशा और विषाद की भावनाएँ जगत् की अनित्यता के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। अन्यत्र वे कहते हैं—

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परमपद
वेदना ही का मनोहर रूप है।

निराला इस जगत् को दुःखमय देखकर परम प्रकाश की खोज करते हुए कहते हैं—

मैं रहूँगा न गृह के भीतर,
जीवन में रे मृत्यु के विवर।
यह गुहा, गर्त प्राचीन, रुद्ध
सर्वदिक्-प्रसार, वह किरण शुद्ध
है कहाँ यहाँ मधु-गन्ध-लुब्ध
वह वायु विमल आलिंगनकर !

महादेवी में तो यह दुःख की भावना विविध रूपों में व्यक्त हुई है। वे कभी जगत् के दुःखमय रूप का वर्णन करती हैं, कभी दुःख को ही साधन मानकर सूफियों की तरह आराध्य से मिलन का प्रयत्न करती हैं और कभी दुःख-सुख के समन्वय के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट करती हैं। वे आराध्य के साधन दुःख को ही आराध्य मानकर कहती हैं—

तुम दुख बन इस पथ से आना ।
शूलों में नित मृदु पाटल-सा खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह जिसने सीखा न हृदय को बिंधवाना !

वे दुख से घबराती नहीं, एकाकी ही उस अपरिचित पथ पर चलना पसन्द करती हैं—

पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला !

महादेवी जी दुःख और सुख को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में देखती हैं, क्योंकि वे एक ही निर्माता की कृतियाँ हैं। इसीलिए यह जगत दुःख-सुख का समन्वय है—

सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला ।
जिसने उसको ज्वाला सौंपी उसने इसमें मकरन्द भरा,
आलोक लुटाता वह घुलघुल, देता भर यह सौरभ बिखरा,
दोनों संगी, पथ एक, किन्तु कब दीप खिला, कब फूल जला ?

दुःख के कारण ही विश्व में करुणा और सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। महादेवी सभी दुखियों के दुःख में आँसू बहाना चाहती हैं—

प्रिय जिसने दुख पाला हो···
वर दो, मेरा यह आँसू
उसके उर की माला हो।

और प्रसाद भी अपने जीवन-गीत द्वारा जगत् को करुणा का सन्देश सुनाना चाहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सुख-दुःख का यह क्रम निरन्तर चलता ही रहेगा —

लालसा निराशा में ढलमल,
वेदना और सुख में विह्वल,
यह क्या है रे मानव जीवन?

पंत भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—

जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित है अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें दुख सुख से औ सुख दुख से !

यह करुणा की भावना ही सामाजिक क्षेत्र में मानवतावादी विचारों को जन्म देती है, शोषित पीड़ित मानवता के प्रति करुणा और ममता की भावनाओं की अभिव्यक्ति छायावादी कविता में भी कम नहीं हुई है। निराला और पन्त सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत ही संवेदनशील हैं। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर' आदि कविताओं में निराला की मानवतावादी भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति हुई है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी
वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूरकालताण्डव की स्मृति से रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।

पंत के अनुसार सामाजिक दुःख को दूर करने का मार्ग व्यक्ति के व्यक्तित्व को तप-पूत बनाना ही है, इसी से जीवन को सुन्दर और सुखमय बनाया जा सकता है। इसलिए वे वेदना को साधन मानकर तप-त्याग की महत्ता सिद्ध करते हैं—

तप रे मधुर-मधुर मन!
विश्व-वेदना में पल-प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल औ कोमल!

आनन्दवाद—संसार की अनित्यता और दुःखों से मुक्ति पाने के लिए अद्वैतवाद की एक दूसरी शाखा शैवागम के प्रत्यभिज्ञादर्शन ने आनन्दमूलक साधना का मार्ग निकाला था। उसके अनुसार प्रत्येक अणु-परमाणु में शिव और शक्ति दो तत्त्व निहित रहते हैं। शिव ज्ञान के और शक्ति क्रिया के प्रतीक के रूप में हैं। ये दोनों शक्तियाँ जब असमन्वित होती हैं तो मनुष्य को दुःख का आभास होता है। वस्तुतः दुःख अनित्य और भ्रम है। व्यक्ति को अपने शिवत्व का ज्ञान हो जाने और ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया का समन्वय कर लेने के बाद प्रतिकूल वेदना अर्थात् दुःख का बोध नहीं होता। इस तरह यह दर्शन रागमूलक आनन्द को ही लक्ष्य मानता है। समूचे प्रसाद-साहित्य की रीढ़ यह आनन्दवादी दर्शन ही है। 'कामायनी' महाकाव्य में भी यही दर्शन काव्य के रूप में उपस्थित किया गया है। इस दर्शन के अनुसार शिव-शक्ति जड़-चेतन जगत् में समान रूप से व्याप्त है—

नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।—(कामायनी)

आनन्दवाद संन्यासमूलक तप और त्याग का समर्थन नहीं करता। वह जीवन को विकासशील और भोगमय मानता है—

तप नहीं, केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
सरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद।

वह सृष्टि को परिवर्तनशील और जीवन के लिए कर्म और भोग को आवश्यक मानता है—

कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द।

सृष्टि के विस्तार के लिए व्यष्टि में दो शक्तियों के साथ ही समाज में भी स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति का योग आवश्यक है। इन शक्तियों के समन्वय से ही मानवता की विजय हो सकती है—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।

कर्ममय जीवन का एकांगी विकास होना भी मानव के लिए घातक है, चाहे वह आध्यात्मिक विकास हो या भौतिक। मनु ने इड़ा (बुद्धि) के साथ मिलकर चरम भौतिक विकास किया और आस्था (श्रद्धा) को महत्त्व नहीं दिया। परिणाम हुआ संघर्ष और आधिदैविक विपत्ति। ऐसे समय में फिर मनु के हृदय में श्रद्धा का उदय

तुमुल कोलाहल-कलह में मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक सी रही तब मैं मलय की बात रे मन।

बुद्धि जहाँ हार मान जाती है वही सहज ज्ञान या आत्मप्रकाश का उदय होता है जो मनुष्य को आशा और आनन्द प्रदान करता है।

'कामायनी' के 'दर्शन' सर्ग मे कवि ने महाचिति को मूर्त्त शिव के रूप मे नृत्य करते हुए दिखलाया है। उसके अनुसार यह जगत् शिव का मूर्त्त रूप है, अतः आनन्दमय है—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत वह रूप बदलता है शत-शत,
कण विरह मिलनमय नृत्य-निरत, उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया मे संतुलन एवं सामंजस्य हुए बिना जीवन की सच्ची आवश्यकताएँ नहीं पूरी हो सकतीं। किसी एक की कमी से जीवन मे विषमताएँ उत्पन्न हो जाएँगी और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकेगी—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।

इसलिए 'आनन्द' सर्ग में कवि आनन्दलोक (कैलास) का दर्शन कराता है। इस लोक में ले जाने वाली शक्ति श्रद्धा है। उस आनन्दलोक का स्वरूप कवि ने इस प्रकार चित्रित किया गया है—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।

मानवतावाद—व्यक्तिवादी आदर्शवाद इस युग में अध्यात्मवाद, मानवतावाद, विश्व-मानवतावाद, मानववाद आदि अनेक रूपों मे व्यक्त हुआ। मनुष्य संसार का सर्व-श्रेष्ठ प्राणी है। मानव की इसी महानता को ध्यान मे रखकर पंत ने अपने अन्तर्मुखी घेरे से निकलकर देखा कि सौन्दर्य मानवेतर प्रकृति मे ही नही, मानव में भी है—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

यह सौन्दर्य शारीरिक नही, आत्मिक है, क्योंकि मनुष्यता उसे पशुओं से भिन्न करती है। उस मनुष्यता के शाश्वत गुण हैं सत्य, प्रेम, क्षमा, करुणा, अहिंसा, अन्याचार आदि के विरुद्ध विद्रोह। मानवतावादी कवि मनुष्य के इन्हीं सुप्त गुणों को जागृत करना चाहता है—

मानव का मानव पर प्रत्यय, परिचय मानवता का विकास,
विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण सब एक, एक सबमें प्रकाश!
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में यदि बने रह सको तुम मानव?—पंत

निराला भी मानवता के कल्याण की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

सार्थक करो प्राण।
स्पर्द्धान्ध जनगात्र
जर्जर अहोरात्र
शेष जीवन मात्र
कुड्मल गताघ्राण
जननि दुख अवनि को
दुरित से दो त्राण !—(गीतिका)

'कामायनी' में प्रसाद ने भी मानव के प्रति श्रद्धा द्वारा मानवता का दिव्य सन्देश दिया है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तु सब संताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;
सबकी समरसता कर प्रचार;
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।

छायावाद और रहस्यवाद

दीनानाथ 'शरण'

छायावाद और रहस्यवाद का विषय हिन्दी के आलोचकों के बीच बहुत दिनों तक एक पहेली-सा बना रहा। किसी ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्यायवाची समझा तो किसी ने छायावाद को रहस्यवाद से बिल्कुल अलग माना। कुछ लोगों ने तो 'छायावाद का रहस्यवाद' की स्वतन्त्र कल्पना भी की। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में अगणित भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। हिन्दी के विद्वान् आलोचक डा० रामकुमार वर्मा ने छायावाद को रहस्यवाद बतलाते हुए 'उसकी छाया में सान्त का अनन्त से मिलाप' देखा है। उनका विचार है कि 'कबीर, जलालुद्दीन रूमी और सेंट आगस्टाइन की कविताओं में यही छायावाद का राग गूँजता है। श्री रामचन्द्र शुक्ल भी छायावाद को रहस्यवाद मानते हुए लिखते हैं कि 'छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम का अनेक प्रकार का चित्रण करता है। 'किन्तु हिन्दी की सभी छायावादी कविताओं को वे रहस्यवाद मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उनमें से कुछ तो विलायती अभिव्यजनावाद के आदर्श पर रची हुई बँगला कविताओं की नकल पर, और कुछ अँग्रेजी कविताओं के लाक्षणिक चमत्कार-पूर्ण काव्य के ढँग पर शब्द-प्रति-शब्द उठाकर जोड़ी जाती है।

छायावाद को रहस्यवाद मानने और समझने की भूल अस्वाभाविक नहीं थी। दरअसल, बात यह हुई कि छायावाद में उद्दाम वैयक्तिकता होने के कारण सौन्दर्य और प्रेम की प्रधानता रही। सौन्दर्य और प्रेम—ये स्वयं जिज्ञासा और रहस्य हैं। 'प्रसाद' जी की इन पंक्तियों में सौन्दर्य और प्रेम की वही जिज्ञासा और रहस्य-भावना द्रष्टव्य है—

> तुम कनक किरण के अन्तराल में, लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
> नत मस्तक गर्व वहन करते, यौवन के घन, रसकण ढरते,
> हे लाज भरे सौन्दर्य, बता दो—मौन बने रहते हो क्यों ?
>
> —चन्द्रगुप्त (प्रसाद)

इस प्रकार की कविताओं की, छायावाद में, बहुलता रही। प्रसाद, पन्त, निराला, और महादेवी वर्मा—छायावाद के प्रमुख कवियों की रचनाएँ इसी भाव से ओतप्रोत हैं। इसीलिए *सौन्दर्य और प्रेम के प्रति जिज्ञासा और रहस्य भरी ऐसी कविताएँ छायावाद की*

एक प्रधान विशेषता बन गयीं । सभी छायावादी कवियों ने रहस्य-भावना को अपनाया । "किसी ने फैशन के रूप में, किसी कवि ने अपनी आन्तरिक अनुभूतियों का प्रदर्शन किया और किसी ने नाम कमाने का साधन बनाया । अपने स्वभाव और मनोदृष्टि के अनुसार कवियों ने रहस्यवाद का प्रदर्शन किया । यदि 'पन्त' को सौन्दर्य ने रहस्योन्मुखी बनाया तो 'निराला' को दार्शनिक तत्वज्ञान ने और महादेवी वर्मा को प्रेम और वेदना ने ।" छायावाद स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्मता की प्रतिक्रिया था, उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी । रहस्यवाद में भी यही बात पायी जाती है । स्वभावतः छायावाद को रहस्यवाद मान लेने की गलती हुई । छायावाद और रहस्यवाद की साथ-साथ चर्चा करती हुई महादेवी वर्मा भी लिखती हैं कि "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गयी । अतः अब मनुष्य के अश्रु मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है । प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं । जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा ।

परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास बुझ न सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता । इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्मनिवेदन करना इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि महादेवी वर्मा के अनुसार छायावादी कवि प्रकृति में व्याप्त अखण्ड-असीम चेतन के साथ अपने ससीम हृदय का तादात्म्य अनुभव करता है और रहस्यवादी कवि उस अखण्ड-असीम सत्ता के प्रति आत्मनिवेदन । महादेवीजी की यह व्याख्या बहुत अंशों में छायावाद और रहस्यवाद के पारस्परिक अन्तर पर पर्याप्त प्रकाश डालती है ।

आज छायावाद और रहस्यवाद के नाम से जिस प्रकार की रचनाएँ समझी जाती हैं उनका एक अपना इतिहास भी है । छायावाद और रहस्यवाद—ये हिन्दी-काव्यधारा की दो विशिष्ट, भिन्न और स्वतन्त्र, किन्तु सदृश प्रवृत्तियों के पर्यायवाचक हैं । रहस्यवाद का इतिहास छायावाद की अपेक्षा प्राचीन है । हिन्दी-कविता में रहस्यवाद तो १९वीं-

१५वीं शताब्दी से ही मिलता है किन्तु छायावाद का प्रारम्भ 'प्रसाद'जी की कविताओं द्वारा सन् १९०९ ई० से हुआ। हिन्दी-कविता में सर्व-प्रथम रहस्यवादी कबीर थे।

इनके बाद ज्ञानाश्रयी शाखा के दूसरे कवियों में भी रहस्यवाद मिलता है। प्रेम-काव्य के कवियों ने भी अपनी पुस्तकों में यत्र-तत्र रहस्यवादी भावनाओं को वाणी दी है। मीराँबाई की रचनाओं में भी कहीं-कहीं रहस्यवाद के दर्शन हो जाते हैं, जैसे—

जिनका पिया परदेस बसत है, लिख-लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हिया बसत है, ना कहुँ आती जाती॥

इसके पश्चात् रहस्य-भावना छायावाद में प्रकट होती है। रहस्यभावना छायावाद में इतनी अधिक है कि बहुत दिनों तक यदि छायावाद को रहस्यवाद ही समझ लिया गया तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। रहस्य-भावना क्या 'प्रसाद', क्या पन्त, महादेवी और निराला सभी छायावादी कवियों में स्पष्ट और तीव्र है। किन्तु छायावाद की रहस्य-भावना और मध्ययुगीन रहस्यवाद में काफी अन्तर है। मध्ययुगीन साम्प्रदायिक रहस्यवाद से छायावाद की रहस्य-भावना सर्वथा पृथक् और उसका स्वतन्त्र स्थान है। जहाँ मध्ययुगीन रहस्तवाद में गोचर जगत् की उपेक्षा मिलती है, छायावाद में उसे उपेक्षणीय नहीं माना गया है। छायावाद में सारी गोचर प्रकृति (जगत्), समस्त विश्व ही 'उस अखण्ड-असीम चेतन सत्ता' का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया गया। अतः 'उसी सत्ता' की अभिव्यक्ति होने के कारण जगत् को प्रतिष्ठा मिली। मध्ययुगीन रहस्यवाद ने असुन्दर, क्षणभंगुर और माया कहकर इस ससार की उपेक्षा की थी—

नैहरवा हमका नाहिं भावै। —कबीर
यो संसार चहर को बाजी साँझ पड्याँ उठ जासी। —मीराँ

किन्तु छायावाद ने मध्ययुगीन रहस्यवाद का पिछलगुआ बनकर पुरानी बातें नही दुहरायी। छायावाद ने नयी दृष्टि से ससार को देखा। उसके लिए यह नामरूपात्मक जगत् भी सत्य है, सुन्दर है—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर। —पंत

एक बात ध्यान देने की यह भी है कि मध्ययुगीन रहस्यवाद में 'उस प्रिय सत्ता' के प्रति साधकों ने जितनी दीनता प्रकट की है वह छायावाद में नहीं है। छायावाद में मध्ययुगीन रहस्यवाद की तरह केवल 'असीम-अनन्त-चेतन' की महिमा नहीं गायी गयी है वरन् जीव की अपनी महत्ता का भी अभिव्यंजन हुआ है। कारण स्पष्ट है कि छायावाद में वैयक्तिकता का उद्दाम विस्फोट था। छायावाद में 'प्रिय' के अलावे 'प्रेयसी', 'असीम' के अतिरिक्त 'ससीम' की भी महत्ता अभिव्यक्त की गयी—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो, हे देव, अरे यह मेरा मिटने का अधिकार। —महादेवी

मध्ययुगीन रहस्यवाद और छायावाद की रहस्य-भावना में एक और अन्तर यह है कि मध्ययुगीन रहस्यवाद जहाँ सन्तोषमय है, छायावाद की रहस्य-भावना असन्तोषमय।

जैसे—

ले चल कहीं भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे,
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे। —प्रसाद

और भी—

बोल सहसा संशय में प्राण रोक लेते अपना मृदु गान,
यहाँ रे सदा प्रेम में मान, ज्ञान में बैठा मोह प्रसार—
हमें जाना जग के उस पार। —'निराला'

वस्तुतः छायावाद और रहस्यवाद एक ही वस्तु नहीं। दोनों एक-दूसरे के निकट होते हुए भी वास्तव में बिल्कुल भिन्न हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत है कि "छायावाद ही जब अध्यात्म का पर्दा अपने ऊपर डाल लेता है तो वह रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है।" छायावाद और रहस्यवाद के पारस्परिक अन्तर पर प्रकाश डालते हुए श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने बहुत ही अच्छा लिखा है कि "छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे भी अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है (जैसे—रंगीले मृदु गुलाब के फूल ! कहाँ पाया मेरा यौवन ? तुम्हीं-सा है मेरा यौवन—पंत), परन्तु उसी पुष्प में जब हम किसी विश्व-व्याप्त परम चेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है। यथा—

स्पृहा के विश्व ! हृदय के हास !
कल्पना के सुख ! स्नेह-विकास !
फूल ! तुम कहाँ रहे अब फूल ?
अनिल में ?—बनकर उर्वित गात,
स्वर्ण-किरणों में कर-मुस्कान,
झूलते हो झोंकों की झूल ?
फूल ? तुम कहाँ रहे अब फूल ?
गगन में ?—बन शशिकला सकल,
देख नलिनी-सी मुझे विरस,
बहाते ओस-अश्रु या स्थूल ?
फूल ! तुम कहाँ रहे अब फूल ?
स्वप्न थे तुम, मैं भी निद्रित
सुमन थे तुम, मैं हूँ कलुषित,
या छुके तुम भव-सागर-कूल
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ? —पल्लव : पंत

इसमें एक छिन्न कुसुम (अथवा किसी माँ के मृत बालक) के प्रति वात्सल्योद्गार है। जब तक वह माँ की गोद में था, तब तक माँ की सम्पूर्ण दृष्टि उसी तक केन्द्रित थी, केवल आत्मा के साथ दूसरी आत्मा जुड़ी हुई थी। किन्तु गोद के शून्य हो जाने पर माँ देखती है,

उसका फूल-सा लाल सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हो गया है—कहीं शादिवला बनकर, कहीं गान बनकर, कहीं मुस्कान बनकर, अर्थात् सम्पूर्ण रूप-रंगों और छवियों मे वही वह है। माँ की दृष्टि, पहले उसमें जितनी ही सीमित थी, अब वह उतनी ही विशाल होकर सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त हो गयी है। उस एक परमात्मारूपी कुसुम ने मानो हृदय के नेत्रों को दिखला दिया, 'सर्वत्र मैं ही तो हूँ।' यह है रहस्यवाद की अनुभूति जिसकी उपलब्धि योगी को साधना द्वारा और कवि को भावना द्वारा होती है। निखिल सृष्टि मे एक परोक्ष-सत्ता का आभास ही रहस्यवाद है।"

स्पष्ट है, छायावाद मे आत्मा और आत्मा का सम्बन्ध रहता है, ससीम और ससीम का सम्बन्ध रहता है, पर रहस्यवाद मे आत्मा और परमात्मा अथवा असीम और ससीम का। अर्थात् फूल को देखकर छायावादी कवि उसमे अपनी आत्मा का आभास पाता है, पर रहस्यवादी विश्व-व्याप्त असीम-अखण्ड चेतना का। रहस्यवादी अलौकिक और अनन्त शक्ति से सान्निध्य स्थापित करने की लालसा करता है। 'छायावादी कवि जब किसी सुन्दर पुष्प को देखता है तो उसमें निजी भावनाओं को आरोपित करता है, उसमे अपनी भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखता है, अथवा अपने मन पर पड़ी प्रतिक्रिया का वर्णन करता है। रहस्य-वादी उसे देखकर एक ऐसी सत्ता का अनुभव करता है जो उस फूल के सौन्दर्य मे ही नहीं, समस्त विश्व में व्याप्त है, और जिससे साक्षात्कार करने के लिए वह तड़प उठता है।'

छायावाद और रहस्यवाद मे दूसरा अन्तर यह है कि छायावाद में अव्यक्त या परोक्ष सत्ता के प्रति केवल जिज्ञासा होती है (जैसे—न जाने कौन, अये द्युतिमान, जान मुझको अबोध, अज्ञान, सुझाते हो तुम पथ अनजान, फूँक देते छिद्रों मे गान, अहे सुख-दुख के सहचर मौन, नही कह सकती तुम हो कौन—'पन्त'), किन्तु रहस्यवाद मे अव्यक्त या परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम। रहस्यवादी कवि असीम चेतन के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन करता है—'बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।' असीम के प्रति ससीम का यही प्रणय-निवेदन ही तो रहस्यवाद है। छायावाद मे प्रणय-भावना नही रहती, केवल जिज्ञासा विद्यमान रहती है।

छायावाद और रहस्यवाद में एक और अन्तर यह है कि छायावादी कवि प्रकृति के कण-कण मे किसी अव्यक्त-असीम सत्ता की छाया देखकर आश्चर्यपुलकित हो उठता है? लेकिन रहस्यवादी को प्रकृति के कण-कण मे परोक्ष प्रियतम के प्रणय-सन्देश सुन पड़ते हैं, उसकी भावनाएँ तीव्र हो जाती हैं, वह मुग्ध-मौन रह जाता है और अज्ञात-असीम के साथ निगूढ़ तादात्म्य के लिए उसका हृदय तड़प उठता है। जैसे—

पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन, आज नयन आते क्यों भर-भर ?
सकुच सलज खिलती शेफाली, अलस मौलश्री डाली-डाली,
बुनते नव-प्रवाल कुंजों में, रजत श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधुपवन, गिन-गिन मधुकण, हरसिंगार झरते हैं झर-झर !
कम्पित वानीरों के वन भी, रह-रह करुण विहाग सुनाते···
तुम विद्युत बन आओ पाहुन, मेरी पलकों में पग धर-धर !

—महादेवी (नीरजा)

रचना-विधान की दृष्टि से, यों छायावाद और रहस्यवाद—दोनों में आत्मनिष्ठा
लेकिन छायावाद में जहाँ छन्दों का वैविध्य दिखायी पड़ा, रहस्यवाद में नहीं। रहस्यवा
कविताएँ प्रायः एक विशेष प्रकार के गीतों में ही लिखी गयी हैं। रहस्यवाद का निराका
ब्रह्म चूँकि जीवन-मरण से परे है, अतएव उस पर प्रबन्ध-काव्य लिखा ही नहीं जा सकता
छायावाद में तो कई प्रबन्ध-काव्यों के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद के पारस्परिक अन्तर का विवेचन किया जा चुका। अब दोनों काव्य-प्रवृत्तियों की समानताओं और विषमताओं को यदि संक्षेप में हम प्रस्तुत करना चाहें तो एक आलोचक के शब्दों में यह कह सकते हैं कि "दोनों ही ने (छायावाद और रहस्यवाद ने) आत्मानुभूति-प्रकाशन का पथ प्रशस्त किया, पर एक का ध्येय लौकिक रहा, दूसरे का आध्यात्मिक। अपनी-अपनी दृष्टियों में दोनों प्रगतिशील रहे। रहस्यवाद ने शताब्दियों से शोषित-पीड़ित मध्य-युग की जनता के लिए लुप्तप्राय प्राचीन भारतीय आदर्शों तथा निर्वाण-साधना-पद्धति को पुनर्जीवित किया, छायावाद ने 'आधुनिक पौराणिक-धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना के विद्रोह' की शंखध्वनि की। दोनों में अन्तर यही रहा कि एक का स्वर अपेक्षाकृत अधिक शाश्वत था, दूसरे का अधिक सामयिक।"

छायावाद के सहृदय समालोचक प्रोफ़ेसर शिवनन्दनप्रसाद जी के विचारानुसार "वस्तुतः छायावाद-काव्य में उस दृष्टिकोण को कहना अधिक संगत है जिसमें बाह्य जगत् और व्यक्ति के आन्तरिक जगत् में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव की स्थापना होती है। इसके आगे रहस्यवाद में उस स्थिति का चित्रण रहता है जब असीम आत्मा विश्व के सौन्दर्य में असीम परमात्मा के लिए सुन्दर रूप का दर्शन कर उससे तादात्म्य-स्थापना के निमित्त आकुल हो उठती है और माधुर्य भाव पर आधारित प्रेम की साधना से उस अनन्त अगोचर से तदाकार होने का प्रयास करती है।"

तो स्पष्ट है, ऊपर के विवेचन के आधार पर अब निश्चय ही, हम छायावाद को रहस्यवाद नहीं मान सकेंगे। दोनों वादों की अपनी स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं और अपनी पृथक् प्रवृत्तियाँ भी।

छायावाद में वैयक्तिकता की प्रवृत्ति प्रमुख रही, इस कारण प्रेम और सौन्दर्य का बाहुल्य रहा। प्रेम और सौन्दर्य स्वयं जिज्ञासा और रहस्य के विषय हैं, और उन्होंने छायावादी कवियों को रहस्योन्मुखी बनाया। छायावादी कविताओं में ऐसी रहस्य-भावनाएँ पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध हैं। अंग्रेज़ी-साहित्य में रहस्यवाद के मुख्यतः तीन प्रकार माने गये हैं—प्रेमपरक रहस्यवाद, सौन्दर्यपरक रहस्यवाद और प्रकृतिपरक रहस्यवाद। शेली को प्रेमपरक रहस्यवाद का, कीट्स को सौन्दर्यपरक रहस्यवाद का और वर्ड्सवर्थ को प्रकृतिपरक रहस्यवाद का प्रतिनिधि कवि माना गया है। छायावाद में श्री जयशंकर 'प्रसाद' को प्रेम और सौन्दर्य का रहस्यवादी कवि कह सकते हैं। प्रसादजी को विश्वास है कि पैर दबाकर भी आने वाला 'सौन्दर्य' अपने को छिपा न सकेगा। उसके अधरों की हँसी उसकी पहचान स्वयं बता देगी—

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे,
देख न लूँ मैं, इतनी ही है इच्छा ? लो सिर भुका हुआ
कोमल किरन-अँगुलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ
फिर कह दोगे, पहचानो तो, मैं हूँ कौन बताओ तो—
किन्तु उन्हीं अधरों से पहले उनकी हँसी दबाओ तो ।—'प्रसाद' (लहर)

लेकिन 'प्रसाद' का 'सौन्दर्य', वह उनसे बिछुड़ गया—

मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पड़े बिलखते थे, उतरे हुए नशे से। —(आँसू)

फिर भी, उसकी स्मृति तो बनी हुई है—

उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की —(लहर)

कारण भी स्पष्ट है कि उसमें कवि का दृढ़ विश्वास था—

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर, मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी, कल्याण-कलित इस मग के। —(आँसू)
अब छुटता नहीं छुड़ाए, रँग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा ! —(आँसू)

यही कारण है कि कवि को मिलन की आशा है—

इस शिथिल आह से खिचकर, तुम आओगे, आओगे,
इस बढ़ी व्यथा को मेरी, रो-रोकर अपनाओगे। —(आँसू)

किन्तु महाकवि 'निराला' को उस मिलन का आनन्द मिल चुका है। वे मिलन की याद करते हुए कहते हैं कि—

ग्रीष्म का ले मृदु रवि-कर-तार
गूँथ वर्षा - जल - मुक्ता - हार
शरत की शशि-माधुरी अपार
उसी में भर देते धर ध्यान
छिन्न हिम-कण से छन-छन बात
शीत में कर रक्खा अज्ञात
बसती सुमन-सुरभि भर प्रात,
बढ़ाया था किसका सम्मान ? —(परिमल)

श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी अपने प्रथम-मिलन के सम्बन्ध में लिखते हैं कि—

उनती थी ज्योत्स्ना शशि मुख पर, मैं करता था मुख-सुधा-पान
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल, भर गये गंध से मुग्ध प्राण।

किन्तु पन्त मुख्यतः प्रकृति के रहस्यवादी कवि हैं। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की तरह ही इन्होंने भी प्रकृति को सचेतन सत्ता के रूप में देखा है—

आत्मा है सरिता के भी जिससे सरिता है सरिता
जल जल है लहर लहर रे गति गति सृति सृति चिर भरिता।

कवि को प्रकृति के विभिन्न रूप निमन्त्रण देते-से प्रतीत होते हैं—

१. न जाने, नक्षत्रों से कौन निमन्त्रण देता मुझको मौन।
२. उठा तब लहरों से कर कौन न जाने, मुझे बुलाता मौन!
३. न जाने, खद्योतों से कौन मुझे पथ दिखलाता तब मौन!

प्रकृति की अपार फैली हुई सौन्दर्य-राशि से कवि-पंत का हृदय जिज्ञासा से भर आता है—

उस फैली हरियाली में, सजा हृदय की थाली में
कौन अकेली खेल रही माँ, वह अपनी वय वाली में!!

लेकिन प्रकृति की सारी सुन्दरता—अरे, यह कुछ और नहीं है, यह तो उसकी 'प्रिया' की ही प्रतिच्छाया है—

१. डोलने लगी मधुर मधुवात हिला तृण, व्रतति, कुंज, तरु, पात,
खोलने लगी, शयित चिरकाल नवल कलि अलस पलक दल जाल,
२. आज मुकुलित कुसुमित चहुँ ओर तुम्हारी छवि की छटा अपार,
फिर रहे उन्मद मधु प्रिय मौंर, नयन, पलकों के पंख पसार!
३. प्रिये, कलि कुसुम कुसुम में आज, मधुरिमा, मधु, सुषमा, सुविकास,
तुम्हारी रोम-रोम छवि व्याज छा गया मधुवन में मधुमास!

—पंत (पल्लविनी)

कवि उस सुन्दरता को देखने को आकुल है जिसकी *प्रतिच्छाया दुनिया में दीख* रही है—

माँ वह दिन कब आवेगा, जब मैं तेरी छवि देखूँगी
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है, जग के निर्मल दर्पण में।

—पंत (वीणा)

महादेवी जी को भी अपने 'प्रिय' की झलक प्रकृति में ही मिलनी है—

प्रिय गया है लौट रात!
सजल धवल अलस चरण
मूक मदिर मधुर करुण
चाँदनी है अश्रु-स्नात!
जिसके पद चिह्न विमल
तारकों में अमिट विरल
गिन रहे हैं नीरजात!

प्रकृति के कण-कण उन्हें प्रिय का सन्देश सुनाते हैं—

कम्पित वानीरों के वन भी रह रह करुण विहाग सुनाते!
... ...
जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आती मधु बयार!

महादेवी मुख्यतः प्रेम की रहस्यवादी कवयित्री हैं। अज्ञात और असीम के प्रति प्रेम ही उनके गीतों के प्राण हैं।

इस भाँति हमने देखा कि छायावाद और रहस्यवाद एक ही नहीं, दोनों में काफी अन्तर है। किन्तु साथ ही साथ, इतनी बात तो सच माननी ही पड़ेगी कि एक ऐसी रहस्य-भावना सारी छायावादी कविताओं में इतनी व्याप्त रही कि बहुत-से आलोचक प्रथम-प्रथम छायावाद को रहस्यवाद मानने की भूल कर बैठे थे।

विम्ब-विधान

केदारनाथ सिंह

काव्य की जो विशेषताएँ हमारा ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करती हैं, उनमें विम्ब या चित्र (इमेज) का स्थान सर्वप्रथम है। 'विम्ब' बहुत व्यापक शब्द है और इसका विचार समान रूप से साहित्य तथा मनोविज्ञान, दोनों ही में किया जाता है। मनोविज्ञान में इस शब्द का अर्थ है मानसिक पुनर्निर्माण, एक स्मृति, अतीत की संवेदनात्मक अनुभूति। आवश्यक नहीं कि विम्ब केवल दृश्य ही हो। वह एक ऐन्द्रिय अनुभव की अनुकृति भी हो सकता है, वह स्वादपरक, घ्राणपरक, स्पर्शपरक भी हो सकता है। या फिर वह केवलमात्र एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार अथवा किन्हीं दो वस्तुओं की तुलनात्मक इकाई भी हो सकता है। विम्ब की काव्य में क्या उपयोगिता हो सकती है—इस प्रश्न पर पश्चिम में बहुत विचार किया गया है। अपने यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा मनोविज्ञान के आधार पर मूर्तिविधान तथा विम्ब-ग्रहण की विशद विवेचना की है।

यूरोप में "इमेजिज्म" के नाम से एक काव्यान्दोलन भी चल चुका है। फ्लींट नामक एक विद्वान ने सन् १९१३ में 'तीन विम्बवादी विधियाँ' नाम से एक विवेचन प्रस्तुत किया था, जिसका सार निम्नलिखित है—

(१) काव्य में वस्तु का प्रत्यक्ष ग्रहण।

(२) ऐसे शब्दों का सर्वथा परिहार जो काव्य को अर्थवान् बनाने में योग नहीं देते।

(३) काव्यनिर्माण में सांगीतिक नियम का निर्वाह।

इस आन्दोलन के प्रवक्ताओं ने पूरे बल के साथ इस बात की स्थापना की थी कि हमारा विश्वास है, कविता को केवल 'विशेष' का ही निर्माण करना चाहिए और उसे किसी भी दशा में अस्पष्ट, सामान्य बातों में नहीं उलझना चाहिए—चाहे वह बात कितनी भी ऐन्द्रिय हो। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने काव्य में संश्लिष्टता, चित्रात्मकता, मूर्तात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता पर अधिक बल दिया; विषय की लघुता तथा विस्तार, कोमलता तथा परुषता, विरलता तथा सघनता का विचार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि उनका काव्य विम्बों की संश्लिष्टता और ताजगी की दृष्टि से तो अनूठा निकला, पर उसकी रचनात्मक सम्भावनाएँ दिन-पर-दिन संकुचित होती गयीं। कविता छोटे-छोटे रंगीन और चुभते विम्बों का 'अलबम' बन गयी। आगे चलकर लम्बी और वर्णनात्मक कविताओं

के रूप में इस प्रवृत्ति की व्यापक प्रतिक्रिया हुई।

कविता मानव-मन की पहली प्रतिक्रिया है। मनुष्य प्रकृति से ही व्यापक नियमों तक पहुँचने से पहले छोटे-छोटे कल्पना-चित्रों के पास पहुँच जाता है। इससे पहले कि स्पष्टतः यथार्थ को प्रतिबिम्बित करे, वह अपनी उलझी हुई और अस्पष्ट चेतना में वस्तु का ग्रहण करता है। इससे पहले कि स्पष्ट उच्चारण करे, वह केवल कुछ संकेतों और अस्पष्ट ध्वनियों से काम लेता है। इससे पहले कि वह गद्य बोले, उसके मुख से निरर्थक कविता निकलती है। इससे पहले कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करे, वह रूपकों का प्रयोग करता है और रूपक का प्रयोग उसके लिए उतना ही अधिक स्वाभाविक होता है, जितनी स्वाभाविक कोई भी वस्तु हो सकती है। बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों तथा बिम्बों की सहायता के मानव-अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्रायः असम्भव है। यहाँ तक कि जब हम शुद्ध विचार के क्षेत्र में पहुँचकर गम्भीर तत्त्वदर्शन की चर्चा करते हैं तब भी हमारे अवचेतन में कहीं-न-कहीं उन भावों तथा विचारों के वर्णचित्र उभरते-मिटते रहते हैं। यह बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया पूरे मानव-जीवन में कुछ इस तरह से फैली हुई है कि हमारे लिए वह अतिपरिचय-जनित अवज्ञा की वस्तु हो गयी है। मानव-जीवन का जो वर्ग प्रकृति के जितना ही निकट होगा, उसके लिए बिम्बों का प्रयोग उतना ही अधिक सहज और एक तरह से अनिवार्य होगा। देहात में बसने-वाले किसानों की बातचीत में बिम्बचित्रों की अनवरत शृंखला देखकर एक सभ्य नागरिक आश्चर्यचकित हो सकता है, पर स्वयं

[illegible] ोना या तेज

काव्यात्मक पदावली के निर्माण में नहीं लगता। यह बात अपने यहाँ की छायावादी कविता के बारे में भी सोलहो आने सच है।

मोटे तौर पर किसी भी कविता मे बिम्ब की दो उपयोगिताएँ हो सकती है—

(१) इन्द्रियगत विशिष्टता—जो काव्य को संगीत तथा चित्रकला मे जोड़ती है और दर्शन तथा विज्ञान से अलग करती है—

(२) अलकृति—जो काव्य को संक्षिप्तता प्रदान करती है और उसमे व्यंजकता और भास्वरता लाती है तथा वैज्ञानिक सल्वाट पद्धति से उसे पृथक्ता प्रदान करती है।

प्रतीक भी अपनी जगह, अपने ढंग से यही कार्य करता है। पर प्रतीक और बिम्ब मे एक मौलिक अन्तर है। सफल बिम्ब प्रतीक के ठीक विपरीत होता है। प्रतीक सांकेतिक होता है। वह सदैव किसी वस्तु-विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है। जैसे 'मैं' कहने से एक विशेष व्यक्ति का और केवलमात्र उसी व्यक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार प्रतीक भी किसी 'एक' की ओर ही सदैव इंगित करता है। बिम्बो का ग्रहण दूसरी तरह से होता है। वे प्रकृति से संश्लिष्ट होते है, अत. उनका ग्रहण भी संश्लिष्ट-रूप मे ही होता है। वे अपनी पृष्ठभूमि मे एक वृहत्तर भावधारा को सँजोये होते है। प्रत्येक पाठक व्यक्तिगत अनुभवो के माध्यम से ही उन तक पहुँच सकता है। यही नही, प्रत्येक पाठक उनका ग्रहण अपने अनुसार करता है, अपने अनुभवो के संदर्भ मे। अत यह कहा जा सकता है कि बिम्ब अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द (आर्बिट्रेरी) और नानार्थ-व्यंजक होते हैं, जब कि प्रतीक नियत और अचूक रूप से एकार्थ-व्यंजक होते है। प्रतीक अपेक्षाकृत अधिक परम्परागत और समाजस्वीकृतिसापेक्ष होते हैं; बिम्ब कम, लगभग नही। प्रतीकों का प्रयोग एक ऐतिहासिक जीवन-प्रवाह की अपेक्षा रखता है। वह निरन्तर प्रयुक्त होते-होते ही नियत अर्थ और निश्चित रूप ग्रहण करता है। इसके विपरीत, बिम्ब प्राय. आकस्मिक होते हैं। उनका जीवन प्रवाह-जीवन नही होता। इसीलिए बिम्ब को बड़ी सरलता से कविता के बाहर निकालकर रखा जा सकता है और वहाँ भी वह जल से निकले हुए ताजे कमल की तरह अपना सौन्दर्य बनाये रख सकता है। प्रतीक कविता से बाहर निकलकर अपना अर्थ चाहे बनाये रखे, पर अपना कलात्मक सौन्दर्य अवश्य खो देता है। प्रसिद्ध प्रतीकवादी यीट्स का तो यहाँ तक कहना है कि एक बिम्ब जब एक ही कवि अथवा कलाकार की रचना मे बार-बार प्रयुक्त होता है, तो उसमे प्रतीक-की-सी निश्चितता आ जाती है और उसकी उत्तरकालीन रचनाओं मे वह असंदिग्ध रूप से प्रतीक हो जाता है। महादेवी की प्रारम्भिक कविताओं मे दीप, फूल, झंझा, समीर, आकाश, निर्झर आदि के जो चित्र आये हैं, वे निश्चय ही बिम्ब की स्थिति के अधिक निकट या प्रायः बिम्ब ही है। पर धीरे-धीरे उनके विकसित प्रयोगो मे इन बिम्ब-चित्रों की इतनी आवृत्ति हुई कि अब उनके अर्थ मे प्रतीकगत निश्चितता आ गयी है—वे प्रतीक हो गये हैं।

उपर्युक्त स्थापनाओं की परीक्षा कुछ उदाहरणो के माध्यम से कर ली जाए। कहा गया है कि बिम्ब का ग्रहण संश्लिष्ट रूप मे होता है और प्रतीक का एकान्त अर्थ

की विशिष्टता के रूप में। 'राम की शक्ति-पूजा' की इन प्रसिद्ध पंक्तियों को लीजिए—

> ऐसे क्षण अंधकार-घन में जैसे विद्युत्
> जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि, अच्युत
> देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
> विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल-मिलन
> नयनों का नयनों से गोपन—प्रिय संभाषण—
> पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थानपतन—
> काँपते हुए किसलय, झरते पराग-समुदय—
> गाते खग नव-जीवन-परिचय, तरु-मलय-वलय!

इनमें चित्रों की एक क्रमबद्ध शृंखला है। राम की तत्कालीन मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिए कवि ने चित्रों में क्षिप्रता और एक प्रकार का ऐन्द्रिय आवेग-सा भर दिया है। प्रत्येक बिम्ब पूरे अर्थ की पृष्ठभूमि की, और सजावट की सम्बद्धता में ही अपना अर्थ रखता है। प्रत्येक पाठक इस बिम्बभावना का ग्रहण अपने-अपने अनुभव के अनुसार करेगा। अंधकार, विद्युत्, उपवन, किसलय, पराग, खग, तरु-मलय-वलय आदि बहुत-से ऐसे बिम्ब हैं, जो किसी अन्य संदर्भ में प्रतीक हो सकते थे। पर यहाँ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध वाच्यार्थ से है, व्यंग्यार्थ से नहीं। अतः उनका ग्रहण बिम्ब के रूप में ही होगा, किसी अन्य रूप में नहीं।

इसके विपरीत प्रतीक एकान्त-अभिव्यक्ति-विशिष्ट अर्थ का प्रकाश लक्षणा अथवा व्यंजना शब्दशक्तियों के सहारे करता है। महादेवी की इन पंक्तियों को देखिए—

> यह बताया झर सुमन ने, यह बताया मूक तृण ने,
> यह कहा बेसुध पिकी ने, चिर पिपासित चातकी ने,
> सत्य जो दिव कह न पाया था अमिट संदेश में।

न तो इन बिम्ब-चित्रों का समष्टि-रूप में ग्रहण ही सम्भव है और न इनमें पाठक की विरल ऐन्द्रिय अनुभूति ही उतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। प्रत्येक प्रतीक किसी-न-किसी विशेष भौतिक सत्य का उपलक्षण है। इसमें उसके अर्थ की समस्याएँ बहुत स्पष्ट हैं। बिम्ब की तरह उसके ग्रहण में पाठक को इस बात की उतनी स्वच्छन्दता नहीं है कि वह अपनी बिलकुल निजी अनुभूतियों के सर्वथा अनुकूल ही इन चित्रों का ग्रहण करे।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में एक बात और ध्यान देने की है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निराला की इन पंक्तियों में से किसी बिम्ब को इस संदर्भ से हटाकर कहीं अलग रख दीजिए। उदाहरण के लिए—'काँपते हुए किसलय' अथवा 'तरु-मलय-वलय' इन चित्रों को लिया जाए। पूरे संदर्भ से अलग भी इनकी कलात्मक स्थिति उतनी ही सुन्दर बनी हुई है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस विश्लिष्ट अवस्था में अर्थ की क्षीणता अवश्यम्भावी है। पर महाकवि कालिदास के 'संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नाऽऽलक्ष्यते' की भाँति इसकी भी क्षीणता वर्णों की कांति में सहज ही छिप जाती है। इसके विपरीत महादेवीजी की पंक्तियों में आये हुए चित्रों का एकान्त-ग्रहण

सम्भव तो है, पर इससे उनका कलात्मक सौन्दर्य ही जैसे खण्डित हो जाएगा । पाठक का ध्यान इस बात पर नहीं जाएगा कि किस सुमन ने, कैसा रंग था उसका, किस स्थान पर खिला हुआ था वह—आदि आदि; वह सीधे, भरकर सुमन ने क्या बताया, इस सत्य के पास पहुँच जाएगा । दूसरे शब्दों में उसके सामने कोई दृश्यखण्ड नहीं उपस्थित होगा। वह शुद्ध-शुद्ध अर्थ का भोक्ता ही बन सकेगा । इसी बात को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अर्थ-ग्रहण और बिम्ब-ग्रहण वाले प्रसंग में अधिक शास्त्रीय ढंग से रखा है । यद्यपि यह मानना कि प्रतीकों की अपनी कलात्मक स्थिति शून्य होती है, ठीक नहीं है । उसी तरह बिम्ब-ग्रहण भी हमेशा संश्लिष्ट रूप में ही हो, यह भी आवश्यक नहीं है ।

कल्पना प्रकृति के ऊपर मानसिक जगत् का प्रक्षेपण है, इस बात को समझने में बिम्बों का अध्ययन सबसे अधिक सहायक हो सकता है । हमारी आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित प्रकृति-चित्र का नाम 'बिम्ब' है । उसका सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से होता है । हम अपनी आवश्यकताओं के द्वारा निर्मित चित्रों को मानव-हृदय की अनुभूतियों से सम्पृक्त करके जीवन प्रदान करते हैं । हमारी आवश्यकताएँ कहाँ से पैदा होती हैं ? उनका जन्म प्रकृति और हमारे बीच के सम्बन्ध द्वारा होता है । हम न हवा का निर्माण करते हैं, न फूल का, न अन्न का, न मनुष्य का, प्रत्युत हम उस बिम्ब का निर्माण करते हैं, जो हमें इन सभी वस्तुओं के सम्बन्ध से प्राप्त होता है। इन वस्तुओं के ज्ञान के लिए बिम्ब से बड़ा सत्य हमारे पास नहीं होता ।

'बिम्ब' सबसे सरल शब्द है । सरल इस दृष्टि से कि रूपक, प्रतीक, विशेषण आदि में अर्थ की उतनी व्यापकता नहीं है। 'बिम्ब' दर्पण में पड़ती हुई उस छाया की तरह है, जिसमें हम अपने चेहरे की रेखाओं से अधिक उससे परे किसी सत्य को देखते हैं। सबसे सामान्य बिम्ब वह है, जो 'दृश्य' होता है । एक उत्तम कोटि का बिम्ब दृश्य वस्तुओं के माध्यम से अन्य ज्ञानेन्द्रियों को भी रसप्लुत करता है । ऐन्द्रियता बिम्ब का सबसे पहला गुण है । यहाँ तक कि बौद्धिक स्तर पर निर्मित बिम्ब भी ऐन्द्रिय होता है। इसके आधार पर बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार बनायी जा सकती है—

काव्यगत बिम्ब वह शब्दचित्र है, जो ऐन्द्रिय गुणों से अनिवार्य रूप से समन्वित होता है ।

पर यह परिभाषा भी पूर्ण न हुई । क्योंकि कभी-कभी पत्रकार भी किसी समाचार को ऐसे संवेदनात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं कि उसमें ऐन्द्रिय गुणों का समावेश हो जाता है। फिर काव्यगत बिम्ब और पत्रकार के बिम्ब में अन्तर क्या हुआ ? स्पष्ट ही एक पत्रकार के द्वारा वर्णित शब्दचित्र में वह 'संवेग' और 'वासना' नहीं होती, जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करती है । उसमें एक प्रकार की तटस्थता होती है, जो उसे काव्यगत बिम्ब से भिन्न बनाती है । फिर कहा जा सकता है कि काव्यगत बिम्ब वह शब्द-चित्र है, जो 'संवेग' और 'वासना' से उद्रिक्त होता है । कॉलरिज ने कहा था—

"बिम्ब कितना भी सुन्दर हो, वह अपने आप में कवि की विशिष्टता तब तक नहीं प्रकट करता, जब तक शक्तिशाली 'वासना' से संयुक्त नहीं हो जाता ।"

वस्तुतः मानवीय संवेग और काव्यात्मक वासना में भी अन्तर होता है । जब

हम किसी रचना को पढ़ते हैं, तब हमें जिस 'वासना' की अनुभूति होती है, वह हमारी निजी वासना से भिन्न होती है। फिर प्रश्न हो सकता है—क्यों हम किसी 'बिम्ब' से प्रभावित होते हैं ? अपने यहाँ तो इसका उत्तर बड़ा सरल है—साधारणीकरण के द्वारा। पर पश्चिम के विचारकों ने तरह-तरह से इसका समाधान निकाला है। जुंग ने उसे एक प्रकार की 'समत्व की स्थिति' (स्टेट ऑव बैलेंस) माना है—जो आज के अधिकांश समालोचकों को मान्य है। पारिभाषिक पदावली की भिन्नता के अतिरिक्त अपने यहाँ के 'साधारणीकरण' और जुंग की 'समत्व' की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

काव्यगत बिम्ब के ग्रहण में इस 'समत्व की स्थिति' के द्वारा जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसका कारण क्या है ? टी० ई० ह्यूल्म ने चित्रों की ताजगी और संक्षिप्तता को इसका कारण माना है। पर हम ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बिम्ब से प्राप्त होने वाले आनन्द के लिए इतना ही अलम् नहीं है। कम से कम संक्षिप्तता तो उसका विशेष कारण नहीं ही है। वस्तुतः कुछ भी स्वतः सम्पूर्ण नहीं होता। कोई भी वस्तु अपने संदर्भ की पूरी सापेक्षता में सत्य अथच आनन्दमयी होती है। मानव-हृदय की सघन अनुभूति और तीव्र संवेग कभी-कभी अभिव्यक्ति की सीमा तोड़कर फैल भी जाता है और वह असंक्षिप्त लयात्मकता भी हमें आनन्द देती है। 'निराला' की बहुत-सी लम्बी कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

अतः बिम्ब की संदर्भगत सापेक्षता और अन्तरावलम्बन (इंटरडिपेन्डेन्स) की परीक्षा से ही हम उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर पा सकते हैं। सापेक्षता बिम्ब तथा रूपक की प्रकृति में ही निहित है। यदि हम कल्पना करें कि संसार एक विराट् शरीर है, जिसमें सभी मनुष्य और पदार्थ एक दूसरे के प्रति सदस्यभाव से सम्बद्ध हैं, तो इस रूपक के द्वारा हम एक बहुत बड़े अन्तर्निहित सत्य की व्यंजना करेंगे। प्रत्येक बिम्ब उस विराट् शरीर के एक बहुत छोटे भाग को अनावृत करता हुआ उसके सम्पूर्ण फैलाव को ध्वनित करता है। वस्तुतः यही पूर्णता की भावना हमें अभिभूत करती है। इसमें हम एक विशेष प्रकार की व्यवस्था और लय पाते हैं, जिसका सम्बन्ध हमारी धड़कनों की लय से होता है। इसके अतिरिक्त शब्द-संगीत, ऐन्द्रियता, तथा सहसा एक प्रस्तुत के साम्य से किसी अप्रस्तुत को पहचान लेना भी बिम्बगत आनन्द का रहस्य है। सिसिल डे लुइस ने बहुत ठीक कहा है कि 'काव्यगत बिम्ब स्वयं मानव-मन का ही दूसरा नाम है, जो प्रत्येक जीवित अथवा मृत वस्तु के साथ अपने सम्बन्ध की घोषणा करता है और इस घोषणा को अच्छी तरह सिद्ध भी करता है।'

काव्यगत बिम्ब के तीन प्रकार के गुण माने जाते हैं—

(१) पूर्वस्मृति को जगा देने की शक्ति, (२) नवीनता, (३) तीव्रता।

कोई भी सफल काव्यगत बिम्ब एक अदृश्य स्पर्श से हमारी पूर्व स्मृतियों को एक झटके के साथ जगा देता है। इस मर्मस्पर्श के भीतर उसकी ताजगी जादू का काम करती है। यदि वह किसी गहरी मानवीय अनुभूति से उत्पन्न होता है, तब उसमें हमारे स्नायु-तन्तुओं को झंकृत कर देने की अद्भुत शक्ति होती है। इसी का नाम तीव्रता है, जो उसका सर्वोत्कृष्ट गुण है। इन तीनों गुणों के अतिरिक्त भी आलोचकों ने कुछ अन्य गुणों

का उल्लेख किया है, जो या तो इतने महत्त्वपूर्ण नहीं है या इन्हीं में से किसी न किसी में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं—

(४) भास्वरता, (५) औचित्य, (६) उर्वरता।

इनमें भास्वरता तो काव्यगत बिम्ब का अन्तर्निहित धर्म ही है। बिना इसके उसका आकर्षण छिन-सा जाता है। औचित्य अवश्य विचारणीय है। क्योंकि इसका सम्बन्ध बिम्ब की सदर्भगत सापेक्षता से है। इसका विचार ऊपर किया जा चुका है। उर्वरता की स्थिति नवीनता से अलग नहीं है। अत उसका उल्लेख बहुत महत्त्व नहीं रखता। अब ऊपर वाले तीन गुण ही काव्यगत बिम्ब के विशिष्ट गुण ठहरते हैं। इन्हीं गुणों के कारण वह काव्य का प्राथमिक धर्म बन गया है। बिम्ब-रहित काव्य की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। इन्हीं बिम्बों के अध्ययन मे पता चलता है कि कविता आज भी प्राग्वैज्ञानिक भावनाओं के प्रति कितनी सच्ची है। काव्य मे चिरकाल से बहुत-से ऐसे चित्र प्रयुक्त होते आ रहे हैं जो आज भी नये-नये सदर्भों मे हमारे लिए उतने ही जीवन्त हैं। इन चित्रों का ऐतिहासिक अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक होगा। इससे भी अधिक मनोरंजक अध्ययन इस बात का हो सकता है कि किस प्रकार काव्य में इन बिम्बों का मूल्य जीवन के बदलते मूल्यों के साथ बदलता जाता है। महाकवि कालिदास के हवनधूमाच्छन्न तपोभूमि के चित्र हमें आज भी प्रभावित करते हैं। पर बहुत-से उत्तर-कालीन सस्कृत कवियों के बिम्ब हमें आज उतना प्रभावित नहीं करते। इसका कारण मेरी समझ में यही है कि कालिदास के बिम्ब अधिक प्रकृत भूमिका पर निर्मित हुए थे। इसलिए उनमें आज भी उतनी ही ताजगी है। पीछे काव्यगत बिम्ब का निर्माण शुद्ध काव्य की भूमिका पर होने लगा। अतः उनकी नवीनता जाती रही।

एक विचित्र बात है कि काव्य मे बिम्बों का अन्तरावलम्बन भी उसी प्रकार चलता रहता है, जिस प्रकार जीवन मे सस्कृतियों का। सामान्यतया काव्य का आनन्द लेते समय हम इस बात को लक्ष्य नहीं कर पाते। पर थोडा रुककर यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से छानबीन करें, तो निश्चय ही एक बहुत बडे सत्य का उद्घाटन हो सकता है, जो सम्भव है हमारी सस्कृति की गुत्थियों को सुलझाने में सहायक हो। उदाहरण के लिए साहित्य में यौन-बिम्बों को लिया जाए। आज अधिकाश यौन-बिम्ब जीवन के उच्चतर मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य में लाये जाते हैं। प्राय. उनके द्वारा आध्यात्मिक सकेतों का ग्रहण होता है। इसके विपरीत फारसी-साहित्य तथा उससे प्रभावित उर्दू आदि में आज आध्यात्मिक बिम्बों के माध्यम से लौकिक जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करना चलन-सा हो गया है। यौन-बिम्बों का आध्यात्मिक मूल्यों के साथ यह परस्पर-विनिमय कम आश्चर्य मे डालने वाला नहीं है। बहुत सम्भव है, यह विनिमय किसी सास्कृतिक अन्तरावलम्बन का प्रतिफल हो।

आज काव्यगत बिम्ब का महत्त्व प्रायः सभी ने एक-कण्ठ से स्वीकार कर लिया है। कवि-कर्म की चरम सफलता इसी के निर्माण में देखी जाती है। एजरा पाउण्ड का तो यहाँ तक कहना है कि "जीवन में बहुत-से बडे-बड़े ग्रन्थों का निर्माण करने की अपेक्षा एक (सफल) बिम्ब का निर्माण अधिक श्रेयस्कर है।" हर्बर्ट रीड ने बड़े जोर

के साथ घोषित किया था कि "हमें एक कवि को उसके बिम्बों की शक्ति और नवीनता के द्वारा मापने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। इनसे बहुत पहले ड्राइडन ने भी बड़े बल के साथ इस सत्य का उद्घाटन किया था कि बिम्ब-निर्माण अपने आप में कविता की ऊँचाई और उसका जीवन है। सिसिल डे लुइस ने बिम्ब की महत्ता को इस प्रकार आँका है—'बिम्ब समस्त कविताओं का मौलिक विषय है और प्रत्येक कविता स्वयं एक बिम्ब है। प्रवृत्तियाँ आती हैं, चली जाती हैं, काव्य की पदावलियाँ बदल जाती हैं, छन्दों की व्यवस्थाएँ परिवर्तित हो जाती हैं, यहाँ तक कि काव्य की तात्त्विक विषय-वस्तु भी इतनी बदल जा सकती है कि वह पहचान में न आये, लेकिन बिम्ब सदैव वर्तमान रहता है।' विलियम ब्लेक ने तो बिम्ब को ही सत्य माना है, उसके अतिरिक्त कोई सत्य ही नहीं—'प्रत्येक वस्तु, जिस पर विश्वास किया जा सकता है,वह सत्य का बिम्ब है।'

इन थोड़े से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर बिम्ब की महत्ता और व्यापकता का परिचय दिया गया है। अब हमारे विचार करने के लिए तीन बातें विशेष रह गयी हैं। पहली, बिम्बनिर्माण अथवा मूर्तिविधान की मानसिक प्रक्रिया; दूसरी, बिम्बों के प्रकार; और तीसरी, छायावादी कविता मे पाये जाने वाले बिम्बों का वर्गीकरण। पहले हम बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया को लेते हैं। शुक्लजी ने उसे रूपविधान का नाम दिया है। वे इसी रूपविधान को सम्भावना या कल्पना कहते हैं। उनके अनुसार इसके तीन प्रकार हैं—

(१) प्रत्यक्ष-रूपविधान, (२) स्मृति-रूपविधान, (३) कल्पित-रूपविधान।

पहला तो प्रत्यक्ष ही है। अतः उसका सम्बन्ध बाहरी रूपविधान से है। दूसरा, बाहरी रूपविधान के आधार पर स्मृति के द्वारा निर्मित होता है। हमारे मन में जो संस्कार-रूप में बहुत से चित्र एकत्र रहते हैं, उन्हीं का यथाक्रम स्मरण स्मृति-रूपविधान है। स्मृति-गर्त मे पड़ी हुई इन्हीं वस्तुओं के आधार पर कोई नया वस्तुव्यापार-विधान करना कल्पित रूपविधान है। प्राचीन कविता में स्मृति-रूपविधान ही अधिक मिलता है और आधुनिक कविता मे कल्पित रूपविधान। इतना अवश्य है कि स्मृति तथा कल्पित, दोनों प्रकार के रूपविधानो की सत्ता प्रत्यक्ष-रूपविधान पर ही टिकी हुई है। अत. उसकी स्थिति अनिवार्य है। साहित्य के क्षेत्र में कल्पित रूपविधान का ही विचार होता है।

प्रत्यक्ष-रूपविधान का काव्य के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। वह जीवन की बाह्य क्रिया से सम्बद्ध है। पर काव्य मे उस 'वस्तु' का अध्ययन किया जाता है, जो किसी संवेदनशील मानसिक प्रक्रिया से छनकर बाहर आती है। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष-रूपविधान का काव्य में वही महत्त्व हो सकता है, जो कवि-कल्पना में बाह्य यथार्थ का महत्त्व है। अब शेष बचे स्मृति और कल्पित रूपविधान। पहले के सम्बन्ध में शुक्लजी का कहना है कि 'जब हम जन्म-भूमि या स्वदेश का, बालसखाओं का, कुमार-अवस्था के अतीत दृश्यों और परिचित स्थानो आदि का स्मरण करते हैं, तब हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ या शरीरयात्रा के रूखे विधानों से हटकर शुद्ध भाव-क्षेत्र मे स्थित हो जाती है। नीतिकुशल लोग लाख कहा करें कि 'बीती ताहि बिसारि दे', 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ?'—पर मन नहीं मानता, अतीत के मधुस्रोत में कभी-कभी अवगाहन किया ही करता है। ऐसा स्मरण

वास्तविक होने पर रसात्मक होना है। स्मृति के दो भेद किये गये हैं—

(१) विशुद्ध स्मृति। इसमे अतीत के दृश्यो का स्मरण अमिश्रित रूप मे होता है। उसके लिए न तो किसी बाह्य साक्ष्य की आवश्यकता होती है, न अतस्साक्ष्य की। परन्तु केवल रति, हास और करुणा से सम्बद्ध स्मृति ही काव्यक्षेत्र मे आती है। इतर प्रसग रस उत्पन्न करने मे उतने समर्थ नही होते।

(२) प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। इसमे प्रत्यक्ष का थोडा-सा अश होना है अर्थात् यह एक प्रकार की मिश्रित स्मृति होती है, जिसके लिए बाह्य साक्ष्य आवश्यक है। किसी रम्य रूप को देखकर अथवा मधुर शब्द को सुनकर जब हमे उसी के समान किसी सुपरिचित रूप अथवा स्वर की स्मृति हो आती है, तो वह प्रत्यभिज्ञान कहलाती है। स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान मे भी रससचार को बडी गहरी शक्ति होती है।

इन दोनों से अलग शुक्लजी ने एक 'स्मृत्याभास कल्पना' का भी उल्लेख किया है, जिसका उपयोग ऐतिहासिक नाटको अथवा उपन्यासो मे होता है। 'स्मृत्याभास कल्पना से उनका तात्पर्य ऐसे रूपविधान (इमेजरी) से है, जो किसी ऐतिहासिक स्थान अथवा भग्नावशेष को देखकर उसके पूर्वकालिक जीवित रूप की कल्पित धुँधली छायाओ के आकार मे हमारे मन के आगे उपस्थित होता है। इस 'स्मृत्याभास कल्पना' के भी दो रूप होते हैं। एक तो वह जिसका उल्लेख अभी-अभी किया गया है। दूसरा वह है, जो किसी आप्त शब्द अथवा इतिहास के आधार पर मन के भीतर अनूदित हो जाता है। अशोककालीन भारत का इतिहास पढने वाले विद्यार्थी की कल्पना मे जो बहुत-से अस्पष्ट चित्र जाने-अनजाने उभरते जाते हैं, उनका आधार आप्त शब्द होता है। इन दोनों से अलग एक तीसरे प्रकार की भी 'स्मृत्याभास कल्पना' होती है, जिसका आविर्भाव तब होता है, जब हम किसी बिलकुल अनजान स्थान मे पहुँच जाते हैं, जहाँ बहुत-सी टूटी-फूटी दीवारें और कुछ पत्थर और ईंटें बिखरी हुई हैं। उस स्थान को देखकर जो एक विशेष प्रकार की सवेदना हमारे भीतर जागेगी वह निराकार नही हो सकती। कुछ धूमिल किन्तु अर्थ-गर्भ चित्र हमारी आँखों के सामने तैर जाएँगे। निश्चय ही उन चित्रो का आधार वह स्थान-विशेष होगा, पर चूँकि हम उस स्थानविशेष से परिचित नही हैं, अतः यह स्थिति 'स्मृत्याभास कल्पना' की पहली कोटि से भिन्न हुई।

यह तो हुई स्मृति की चर्चा। अब रहा 'कल्पित रूपविधान'। शुक्ल-जी इसे खाली 'कल्पना' कहकर पुकारते हैं। वे मानते हैं कि काव्य-वस्तु का सारा रूपविधान इसी की क्रिया से होता है। वे काव्य मे बिम्ब की स्थिति अनिवार्य मानते है और उनका दृढ मत है कि बिना बिम्बग्रहण के रसनिष्पत्ति नही हो पाती। उन्ही के शब्दों मे, 'काव्य की कोई उक्ति कान में पडते समय जब काव्य-वस्तु के साथ वक्ता या बोद्धव्य पात्र की कोई मूर्त भावना-सी खड़ी करती है तभी पूरी तन्मयता प्राप्त होती है।'

बिम्ब आते कहाँ से है? कवि की जीवनानुभूति से। कवि की अनुभूति के दो मुख्य क्षेत्र होते हैं—जीवन तथा प्रकृति। जीवन के भी दो हिस्से होते हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बिम्ब का सम्बन्ध दोनों से है। जिस कवि या कलाकार का अनुभव-क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा, उसके कल्पनाचित्र (बिम्ब) उतने ही उर्वर और नये होंगे।

इसके लिए कवि के पास उस दृष्टि का होना अत्यन्त आवश्यक है, जो प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं के आर-पार देख लेती है। आई० ए० रिचर्ड्स ने 'बिम्ब-निर्माण की क्रिया को' अर्द्ध-अन्धविश्वासमयी पद्धति कहा है, जिसके द्वारा विविध वस्तुओं का अस्तित्व एक छोटी-सी रचना के दायरे में हो जाता है। इस सम्बन्ध में टी०एस० इलियट के निम्नलिखित विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

'बिम्बनिर्माण का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा कवि के अध्ययन से आता है। उसका आविर्भाव उसके बचपन से लेकर अब तक के समस्त 'संवेदनशील जीवन' के भीतर से होता है। क्यों हमारे दृष्ट, श्रुत, और अनुभव-जीवन से निःसृत कुछ बिम्ब ही भावोच्छ्वास के साथ उभरते हैं? एक चिड़िया का गीत, एक मछली की उछाल, एक फूल की गंध, जर्मनी के पहाड़ी पथ से उतरती हुई एक बूढ़ी औरत, फ्रांस के एक छोटे से रेलवे स्टेशन पर खुली खिड़की से देखे गये ताश खेलते छः आवारे—इन स्मृतियों का प्रतीकात्मक मूल्य हो सकता है। पर इनके बारे में हम कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि जिन गहरी अनुभूतियों के उपलक्षण बनकर ये आये हैं उनके भीतर झाँक सकने की सामर्थ्य हमारे पास नहीं है।"

प्रकारान्तर से टी० एस० इलियट के शब्दों से भी वही ध्वनित होता है, जो आई० ए० रिचर्ड्स की 'अर्द्ध-अन्धविश्वासमयी पद्धति' कहने से। निष्कर्ष यह निकला कि बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया एक ऐसे भावावेश से भरे क्षण की प्रक्रिया है, जब हम लगभग अर्द्धचेतन अवस्था में होते हैं और एक बार प्रतिबिम्बित हो जाने के बाद वह क्षण जीवन में फिर कभी नहीं आता। उस विशेष क्षण को जानने के लिए हमारे पास इन थोड़े-से बिम्बों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

बिम्ब जहाँ एक ओर काव्यगत 'भाव' को मूर्त रूप देता है, वहीं वह दूसरी ओर कभी-कभी अर्थगत अस्पष्टता को बढ़ाने में भी सहायक हो जाता है। ऐसा तब होता है जब कवि के सामने कोई निश्चित वक्तव्य नहीं होता, वह केवल चित्रों की लम्बी शृंखला उपस्थित करके पाठक को आकृष्ट करना चाहता है। उस दशा में किसी-न-किसी रूप में शिल्प ही प्रधान हो उठता है, भाव दब-सा जाता है। इसलिए कविता की भाषा को 'स्पष्ट', 'घनीभूत' और 'सम्पन्न' होना चाहिए। बिना इसके वह निश्चितता और सामर्थ्य नहीं आ सकती, जो एक वैज्ञानिक की भाषा में होती है, न वह अनुभूतियों के वास्तविक छायाचित्रों को व्यक्त करने में सक्षम हो सकती है। काव्यगत बिम्ब अथवा चित्र में उतनी ही ताज़गी होनी चाहिए, जितनी उस वस्तु में होती है, जिसे हम पहली बार देखते हैं। कविता के एक छन्द या चरण में आये हुए बिम्बों में एक अन्तर्निहित एकता का होना आवश्यक है। यदि सम्पूर्ण कविता के बिम्ब परस्पर असम्बद्ध या विरुद्ध हों तो उनसे काव्य पूर्ण न होकर और अधिक उलझन को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होगा। दो बिम्बों के मिलने से यदि कोई [illegible] बिम्ब उत्पन्न होता है, तो उसमें [illegible] अधिक [illegible] हो जाती है। इसी [illegible] यह चाहिए कि दोनों एक-दूसरे की सम्प्रेषणता और अर्थवत्ता को अपने सम्बन्धों से स्पष्ट करें। बिम्ब केवल वस्तु का 'चित्रण' या 'प्रतिबिम्बन' ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि वह अपनी सत्ता से कवि की किसी विशेष मनःस्थिति और दृष्टिकोण को भी सूचित करता है।

सुन्दर-आकर्षक होने से ही कोई बिम्ब कविता का अनिवार्य अंग नहीं बन जाता। कविता में उसको लाने से पहले दो बातें आवश्यक हैं। पहली यह कि वह अनिवार्यतः कवि के वक्तव्य को प्रेषित करने में सहायता पहुँचाए और दूसरी यह कि वह कविता में आये हुए अन्य बिम्बों से अपना सम्बन्ध प्रमाणित कर सके। इन दोनों शर्तों को पूरा करने के बाद ही कोई बिम्ब किसी काव्य का शोभावर्द्धक धर्म बन सकता है।

बिम्ब के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। वह वाक्य के किस भाग से सम्बद्ध होता है—इस बात की व्याख्या तरह-तरह से की गयी है। मुख्यतया वाक्य के तीन भाग हो सकते हैं—संज्ञा, विशेषण और क्रिया। इनमें बिम्ब की स्थिति किसमें होती है—यह विचारणीय है। सामान्यतः वह कहीं भी, किसी भी रूप में हो सकता है। वह संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण अथवा क्रिया कुछ भी हो सकता है। विशेष रूप से उसकी सत्ता विशेषण और क्रिया में ही मानी जाती है। कारण यह है कि वाक्य के वैशिष्ट्य को जितना विशेषण और क्रियाएँ व्यंजित करती हैं, उतना संज्ञा नहीं। संज्ञा तथ्य को और विशेषण तथा क्रिया क्रमशः मानवता एवं प्राकृतिक या मानवीय चेष्टा को व्यक्त करती हैं। क्रिया से बिम्ब की गत्यात्मकता स्फुट होती है और विशेषण से उसकी विलक्षणता तथा वैशिष्ट्य। उदाहरण के लिए कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

विशेषण— दूर उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गयी नील झंकार!

क्रियाविशेषण— मत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर थर थर!

उन्होंने प्रायः प्राचीन संस्कृत-कवियों के परम्परागत बिम्बों को एक नया रूप देकर आधुनिक साँचे मे ढाल दिया है। इसमे उनके बिम्बों में एक प्रकार का गहन 'क्लासिकल' रंग आ गया है। निराला के चित्रों में भावावेग और वासना का एक उद्दाम प्रवाह मिलता है, जो कभी-कभी बड़ी लम्बी सम्बन्धयोजना के कारण दुरूह और अस्पष्ट हो जाता है। निराला ने प्रकृति के भी प्रायः वे ही चित्र संकलित किये हैं, जो सान्द्र तथा ओजस्वी हैं अथवा जिनमें तीव्र भावावेग को जगा सकने की क्षमता है। व्यापकता की दृष्टि से निराला के बिम्ब आधुनिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। अकेले निराला ही ऐसे हैं, जिनकी कविताओं में अत्याधुनिक सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्रों से गृहीत बिम्ब भी कभी-कभी मिल जाते हैं। वैसे पन्त की नवीनतम कविताओं में भी इस तरह के चित्र मिल सकते हैं। परन्तु उनकी मर्मच्छवियों का सौन्दर्य भावावेग या वासना की प्रेरकता में नही, चित्रण के कौशल में है। इसीलिए पन्त की कविताओं में विशेषणो का सौन्दर्य हमारा ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करता है। स्पष्ट है कि विशेषण पर दृष्टि रखने वाले कवि का ध्यान कर्म-सौन्दर्य पर उतना नहीं जाएगा, जितना वस्तुओं के रंग, रूप, स्पर्श, गन्ध आदि पर। यही कारण है कि पन्त के बिम्बों में विस्तार उतना नहीं है, जितनी सघनता। वैविध्य लाने के लिए उन्होंने प्रायः दुहरे ऐन्द्रिय चित्रों की योजना की है। ऐन्द्रियता और संक्षिप्तता की दृष्टि से पन्त के बिम्ब सबसे अधिक सफल कहे जा सकते हैं।

महादेवी की कविताओं का सौन्दर्य बिम्बों के संकलन में उतना नहीं है, जितना प्रतीकों की ऐकान्तिकता और भाव की वैयक्तिक सघनता में है। उनकी कविताओं में दो प्रकार के बिम्ब प्रायः मिलते हैं जो समूची छायावादी परम्परा मे पाये जा सकते हैं। पहले प्रकार के बिम्ब वे हैं, जो प्रकृति अथवा कला से गृहीत हैं और दूसरे प्रकार के वे हैं, जो वैदिक अध्ययन से प्राप्त किये गये हैं। दूसरे प्रकार के बिम्ब बहुत कम हैं। पर अपनी विरलता मे भी वे अपनी चिरसंचित नवीनता और उर्वरता के कारण दूर से ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जैसे—

(क) *यह विरह की रात का कैसा सबेरा है!*

(ख) *पंक-सा रथचक्र से लिपटा अँधेरा है।*

रथचक्र से लिपटे हुए पंक की धारणा आज की नहीं है। पर इस चित्र में एक ऐसी ताजगी और संस्कार है, जो हमारी ऐतिहासिक चेतना को जगाता है और इस प्रकार एक अनूठी व्यंजना से हमे अभिभूत कर लेता है। प्राचीन संस्कारों को जगाने वाले बिम्ब निराला में भी मिल जाते हैं। सामान्यतः छायावादी बिम्बों का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है। पर जिस क्षेत्र से ये बिम्ब ग्रहण किये गये हैं, उसकी संदर्भगत सापेक्षता को काफी दूर तक व्यंजित करते हैं। विषय तथा मूलस्रोतों के आधार पर ही इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। पर वह अधिक प्रत्यक्ष और स्थूल होगा। अतः भाव तथा बिम्बगत गुणों के भेद के आधार पर ही उनको ठीक-ठीक वर्गीकृत किया जा सकता है। वर्गीकरण की यह पद्धति अधिक वैज्ञानिक होगी।

अमेरिकन समीक्षक हेनरी वेल्स ने अपनी पुस्तक "पोयटिक इमेजरी" (काव्यात्मक

मूर्तिविधान) में इस आधार पर जो वर्गीकरण किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1] यहाँ जो वर्गीकरण उपस्थित किया जा रहा है उसका आधार तो वेल्सकृत वर्गीकरण ही है, पर भारतीय काव्य-परम्परा तथा रूपविधान की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया गया है। इस वर्गीकरण के तीन आधार है—१. बिम्ब के गुणधर्म, २. बिम्बगत अन्तरावलम्बन, और ३. साहित्य के बदलते हुए सौन्दर्यमूल्य।

इन आधारों का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ हम छायावादी कविताओं की जातीय विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अपना वर्गीकरण उपस्थित करते हैं—

१. सज्जात्मक अथवा अलंकरणप्रधान बिम्ब
२. उदात्त बिम्ब
३. संवेदनात्मक बिम्ब
४. वस्तुप्रधान बिम्ब
५. घनात्मक बिम्ब
६. विस्तारप्रधान बिम्ब
७. नादप्रधान अथवा संगीतप्रधान बिम्ब

इन सातों के अतिरिक्त कुछ ऐसे बिम्ब भी मिलते हैं, जिन्हें किसी अलग वर्ग में न रखकर सामान्य रूप से एक के साथ रखना ही संगत जान पड़ता है—जैसे व्यंग्य, वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध्य आदि से प्रेरित बिम्ब।

(१) सज्जात्मक अथवा अलंकारप्रधान बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता उनकी सजावट में होती है। इस प्रकार के बिम्बों के निर्माण में कल्पना रूपक अथवा इसी प्रकार के अन्य अलंकरणों के प्रतिबन्ध से बाधित रहती है। अतः इस वर्ग की विशेषता बिम्बों की उर्वरता या नवीनता में नहीं, परम्परा से प्राप्त रूपकों के सम्यक् निर्वाह में है। इसीलिए काव्य में इसका महत्त्व अन्य वर्गों की अपेक्षा कम माना जाता है। आंशिक रूप से इस वर्ग का सम्बन्ध संगीतप्रधान बिम्ब के साथ देखा जा सकता है। पर उसकी अपेक्षा यह अधिक व्यापक है, जब कि संगीतप्रधान बिम्ब की सीमाएँ शब्दों के सम-विषम प्रयोगों तक ही रह जाती हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद का यह प्रसिद्ध छन्द लें—

> बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
> मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।

इसमें कवि परम्पराप्राप्त प्रतीकों के द्वारा एक ऐसा बिम्ब खड़ा करता है, जो असाधारण-सा लगता है। पर इसकी नवीनता किसी नये सत्य के उद्घाटन में नहीं, पुराने बिम्बों की सफल सम्बन्ध-योजना में है। इसी प्रकार पंत की 'स्याही का बूंद' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

---

१. (a) The Decorative image, (b) The Sunken image, (c) The Violent image, (d) The Radical image, (e) The Intensive image, (f) The Expansive image, (g) The Exuberant image.

अचानक यह स्याही का बूँद लेखनी से गिर झर, सुकुमार,
गोलतारा सा नभ से छूट—साधने को क्या स्वर का तार,
सजनि, आया है मेरे पास।

यह चित्र हृदय में किसी गहरी घनीभूत अनुभूति को नहीं जगाता, केवल स्याही की बूँद और गोलतारा के दूरान्वयी सम्बन्ध की योजना से हमें चमत्कृत करता है। यहाँ कल्पना का कार्य सीमित होकर असम्भव की सम्भव रूप-योजना में ही आ अटका रह गया है।

सज्जात्मक बिम्ब का सर्वोत्तम रूप वहाँ देखने में आता है, जहाँ कवि पुराने प्रतीकों के द्वारा नये सदर्भ की पृष्ठभूमि में किसी सुन्दर-मनोरम चित्र का निर्माण करता है। पंत की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

देह में पुलक, उरों में भार, भुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार, गिरा में लाज, प्रणय में मान।
तरुण विटपों से लिपट सुजान सिहरती लतिका मुकुलित गात।

सज्जात्मक बिम्ब की सबसे बड़ी 'विशेषता' कला की विशेषता होती है, वस्तु की नहीं। इसी वस्तु और कला के पारस्परिक अनुपात से उसके विभिन्न स्तरों की पहचान हो सकती है।

२. उदात्त बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता भाव तथा वस्तु के ऐसे चित्रण में है, जिससे ओज की व्यंजना होती है। इसके द्वारा परुष, विषम तथा असाधारण भावों का ही चित्रण हो सकता है। वस्तुतः यह प्राचीन भावप्रधान नाटकों का ही एक आधुनिक काव्यात्मक रूप है। 'कामायनी' का पहला ही छन्द इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—

हिम-गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

इसका औदात्य चित्र की असाधारणता में है, आकस्मिक भावोच्छ्वास में नहीं। इस असाधारणता के साथ जब भावाकुल हृदय-तरंगों का मेल हो जाता है, तो उसका रूप कुछ इस प्रकार हो जाता है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग, उठते पहाड़
जल राशि राशि जल पर चढ़ता, खाता पछाड़
तोड़ता बन्ध, प्रतिसंध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शतवायु वेग-जल डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव (राम की शक्तिपूजा)

कभी-कभी इस प्रकार के उदात्त बिम्बों के द्वारा उच्च भाव के धरातल पर किसी व्यापक सत्य की ओर संकेत भी मिलता है, जैसे पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ—

भूमि घूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य-भूति के मेघाडम्बर,
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकम्पन.
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि-पोतों-से उडुगन,
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत, कर शत शत फन
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक्पिंजर में बद्ध गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु-गर्जन !

३. संवेदनात्मक बिम्ब—इस वर्ग के बिम्ब कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। बिम्ब की प्रकृति के विवेचन मे बताया गया है कि ऐन्द्रियता मूर्तिविधान की अनिवार्य विशेषता है। अत यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक ऐन्द्रिय बिम्ब 'सवेदनात्मक' होना है। परन्तु यहाँ 'सवेदनात्मक' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे किया गया है। प्रत्येक बिम्ब सवेदनात्मक हो सकता है, पर यह आवश्यक नही कि उसका आधार विशुद्ध सवेदना ही हो। सवेदनात्मक बिम्ब की यही विशेषता है और इसीलिए वह सामान्यतः कुछ भावात्मक और अस्पष्ट होता है। रोमान्टिक कविता का यह अपना क्षेत्र है और प्रायः रहस्यप्रधान रचनाओ में इस प्रकार के बिम्ब अधिकता से पाये जाते हैं। इसकी सबसे बडी पहचान यह है कि पढते समय इसका कोई स्पष्ट चित्र हमारे सामने नही आता, एक धुँधला-धुँधला सा भाव ही हमारी पकड मे आता है। प्रसाद की निम्नलिखित पक्तियाँ लीजिए—

सुख, केवल सुख का वह संग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।

इन पक्तियो को पढ़कर केंद्रीभूत सुख की अस्पष्ट अनुभूति भर हमें होती है। 'छायापथ मे नव तुषार के सघन मिलन' से भी उसकी कोई स्पष्ट मूर्ति हमारे सामने नही आती। पर ऐसा भी नही है कि कवि की अनुभूति की प्रेषणीयता किसी तरह कही बाधित होती हो। वह सीधे हमारे मर्म का स्पर्श करती है। अतः यह मानना होगा कि अस्पष्ट ही सही पर इन पंक्तियों के द्वारा कोई न कोई बिम्ब हमारे अन्तःकरण में उपस्थित अवश्य होता है। कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं—

छायापथ में छाया से चल, कितने आते-जाते प्रतिपल,
लगते उनके विभ्रम इंगित, क्षण में रहस्य, क्षण में परिचित। (महादेवी वर्मा)

और पंत का निम्न छन्द—

गूढ़ कल्पना सी कवियों की अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी बच्चों के तुतले भय-सी।

उपर्युक्त दोनो छद हमे कोई अनुभूति देना चाहते हैं जो बहुत गहरी और तीव्र है, इसलिए अस्पष्ट और अबाध है, पर उसे बाँधने के लिए जिस रूपविधान की योजना की गयी है, वह धूमिल और अस्पष्ट है। यह धूमिलता ही इसकी विशेषता है, जिसके भीतर से हृदय की उज्ज्वल कांति (अनुभूति) छिपाये नहीं छिपती। कभी-कभी

संवेदनात्मक बिम्ब की रेखाएँ घनात्मक बिम्ब की सीमाओं को छूती-सी लगती हैं। पर ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि दोनों में स्पष्ट अन्तर है। घनात्मक बिम्ब अनिवार्य रूप से पाठक के सामने कोई न कोई मूर्ति खड़ी करता है, जिसकी रेखाएँ काफी स्पष्ट होती हैं।

४. वस्तुप्रधान बिम्ब—इस वर्ग के बिम्ब छायावादी कविता में बहुत अधिक नहीं पाये जाते। कारण, कल्पना-प्रधान काव्य में उनके लिए स्थान कम-से-कम होता है। इनकी विशेषता है यथार्थ की दृढ़-मांसल रेखाओं का कलात्मक मूर्तीकरण। पर, वे रेखाएँ 'फोटोग्रैफिक' न हो जाएँ, इसके लिए किसी तीव्र संवेदना का होना आवश्यक है।

'निराला' की कविता है—

> वह तोड़ती पत्थर
> देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
> वह तोड़ती पत्थर,
> नहीं छायादार
> पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
> श्याम तन, भर बँधा यौवन,
> नत नयन प्रियकर्म-रत मन,
> गुरु हथौड़ा हाथ
> करती बार बार प्रहार
> सामने तरु-मालिका, अट्टालिका, प्राकार।

चित्र की एक भी रेखा, एक भी रंग का उभार ऐसा नहीं है, जो हमें विषय-वस्तु से कहीं दूर ले जाता हो। जो, जितना, जहाँ है, कवि ने उसी को गहरी मानवीय संवेदना में डुबोकर पाठक के सामने ज्यों का त्यों रख दिया है। छायावादी कविता में इस तरह के उदाहरण बहुत नहीं मिलते। 'कामायनी' का एक छंद है—

> अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
> स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

ऊपर से देखने पर लग सकता है कि इन पंक्तियों में सीधा-सीधा तथ्य-कथन मात्र कर दिया गया है। पर बात ऐसी नहीं है। फिर इस सीधी बात में वह शक्ति कहाँ से आती है, जो हमें प्रभावित करती है? उसका सम्बन्ध विषय के असाधारणत्व से है—एक असाधारण विषय की अभिव्यक्ति असाधारण भाव-संयम के साथ की गई है। यही इस चित्र की प्रभविष्णुता का रहस्य है।

वस्तु-प्रधान बिम्ब की सीमाएँ कभी उदात्त और कभी नादानुरंजित बिम्ब की सीमाओं को छूती हुई भी दिख जाती हैं। पर गहरे उतरकर उनका अन्तर देखा जा सकता है। नादप्रधान या संगीतप्रधान बिम्ब वस्तु-चित्रण को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना लय या ध्वन्यात्मकता को। उदात्त बिम्ब के लिए भी वस्तु-चित्रण उतना आवश्यक नहीं है, जितनी प्रभावोत्पादकता। वस्तुतः वस्तुप्रधान बिम्ब प्राचीन कविता—क्लासिकल काव्य—की विशेषता है। रोमान्टिक कविता से उसका दूर का सम्बन्ध है।

५. घनात्मक बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता अनुभूति की गहन अभि-व्यक्ति और असाधारण कला-कौशल मे होती है। संवेदनात्मक बिम्ब के पास पड़ने के कारण इसको पहचानने मे कभी-कभी भ्रान्ति हो जाती है। वस्तुतः घनात्मक बिम्ब की भूमि चित्रकला तथा मूर्तिकला के अधिक उपयुक्त है। कभी-कभी इस वर्ग के चित्रों में एक प्रकार के रहस्य और लोकोत्तरता की भावना भी मिल जाती है। सूर, बिहारी तथा घनानन्द के चित्रों में इस वर्ग की विशेषताएँ पायी जा सकती हैं। कुल मिलाकर इस प्रकार के बिम्बों का सौन्दर्य 'पेंटिंग' अथवा चित्रण की कुशलता मे ही होता है। पन्तजी की रचनाओं मे इसी वर्ग का प्राधान्य है—

चंचल पग दीप-शिखा के घर गृह-मग वन में आया बसन्त,
सुलगा फाल्गुन का सूनापन सौन्दर्य-शिखाओं में अनन्त !

अथवा—

फिर परियों के बच्चे-से हम, सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्सना में—पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।

उपर्युक्त दोनो छन्दों मे सुलगते हुए फागुन के सूनेपन तथा शुचि ज्योत्स्ना में पैरते हुए घनखण्डों का आकलन जिस पद्धति पर हुआ है, वह स्पष्टतः चित्रकला के निकट दीख पड़ती है। भावो का सयम, इकहरी अनुभूति, दृश्य आकारों की प्रधानता आदि इस वर्ग की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। प्रसाद, निराला तथा महादेवी मे भी इस प्रकार के चित्र पाये जा सकते हैं, पर जैसा कहा गया है, इस वर्ग के चित्रों के धनी पंत हैं। प्रसाद में संवेदनात्मक चित्रों की प्रधानता है, पर कभी-कभी उनमें घनात्मक बिम्ब भी मिल जाते हैं। जैसे—

अम्बर असीम अंतर में चंचल चपला-से आकर,
अब इन्द्रधनुष-सी आभा तुम छोड़ गये हो जाकर !

ध्यान से पढ़ने पर दीखेगा कि प्रस्तुत चित्र केवल रंगो की दृश्यता के आधार पर घनात्मक हो उठा है। मूलतः आकारगत अस्पष्टता के कारण वह संवेदनात्मक ही अधिक है। परन्तु चंचला और इन्द्रधनुष के पारस्परिक सम्बन्ध से उसमें एक सूक्ष्म आकारगत अनन्यावलम्बन भी दीखता है, जो उसे घनात्मक बिम्ब का रूप देता है।

६. विस्तारप्रधान बिम्ब—इस वर्ग का वैशिष्ट्य भावों के प्रसार तथा बिखराव मे होता है। भावप्रधान कविताओं में इस तरह के चित्र बहुत मिलते हैं। आवश्यक नहीं कि इस वर्ग के बिम्ब केवल सुन्दर तथा आकर्षक रंग-रूपों का ही आधार ग्रहण करें। उनमें कभी-कभी भयकर और वीभत्स रूपों की भी अभिव्यक्ति होती है। इस वर्ग की सीमाएँ प्रायः वस्तुप्रधान बिम्ब की सीमाओं को स्पर्श करती दीखती हैं। परन्तु गहरे उतरकर देखने पर स्पष्ट दीखेगा कि विस्तार-प्रधान बिम्ब का आधार 'वस्तु' उतना नहीं, जितना 'भाव' है, जबकि वस्तु-प्रधान बिम्ब का आधार अनिवार्यतः 'वस्तु' ही होती है। निराला तथा प्रसाद मे इस वर्ग के बिम्बों का सौन्दर्य देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रसादजी का यह पद लिया जा सकता है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।
वह विश्वमुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म पलाश चषक से दृग, देते अनुराग विराग दान,
...   .

था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन रस सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये,
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक-वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल।

बुद्धिरूपा इड़ा का चित्र उपस्थित करने के लिए इतनी विराट् पटभूमि ग्रहण की गयी है। इन पंक्तियों में आये हुए वस्तुओं के चित्र अथवा नाम अपने आपमें कोई मूल्य नहीं रखते। ये वस्तुतः इड़ा के भावरूप को ही स्पष्टता तथा भास्वरता प्रदान करते हैं। पुराने कवियों में तुलसी, देव, भूषण आदि में इस प्रकार के बिम्बों को देखा जा सकता है। विस्तारप्रधान बिम्बों का क्षेत्र महाकाव्य अथवा कथात्मक काव्य होता है, गीतिकाव्य नहीं।

७. नादप्रधान अथवा संगीतप्रधान बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों का ग्रहण छन्द के नाद-सौन्दर्य से होता है। यह विचित्र बात है कि दृश्य चित्रों को और अधिक गाढ़ा रंग देने में शब्दों का संगीत भी किसी-न-किसी रूप में सहायता पहुँचाता है। दृष्टि और श्रुति के पारस्परिक सम्बन्ध का जो महत्त्व व्यावहारिक जीवन में होता है, वही काव्य में भी देखा जाता है। छायावादी कविता में इस वर्ग के चित्र बहुत नहीं पाये जाते। वस्तुतः यह चारणकाव्य का गुण है। अँगरेजी के मिल्टन आदि कवियों में नादप्रधान चित्रों का उत्कर्ष देखा जा सकता है। निराला और पंत की कुछ कविताओं में नादप्रधान बिम्बों का प्राधान्य मिलता है। 'राम की शक्तिपूजा' का तो आरम्भ ही नाद-सौन्दर्य से होता है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर—
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग प्रखर,
शतशेल संवरणशील, नीलनभ गर्जित स्वर
प्रतिपल परिवर्तित व्यूह, भेद-कौशल-समूह
राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि विषम हूह।

सामान्यतः देखा जाए तो नादानुप्रेरित अर्थ के अतिरिक्त कोई वस्तुगत अर्थ पकड़ में नहीं आएगा। परन्तु कवि जिस ओजपूर्ण वातावरण की दृष्टि करना चाहता है उसको उपस्थित करने में ये चित्र पूरी तरह समर्थ हैं। नाद-प्रधान चित्रों की सीमा यह है कि उनका उपयोग केवल विराट्, अद्‌भुत तथा अपरूप वस्तुओं के वर्णन में ही किया जा सकता है। कभी-कभी वर्ण्य की ऊँचाई, फैलाव तथा विस्तार को सूचित करने के लिए नादप्रधान बिम्बों का उपयोग किया जाता है। जैसे पंत की निम्न पंक्तियों में—

वे डूब गये, सब डूब गये—
दुर्दम, उदग्रशिर, अद्रिशिखर।

दूसरी पंक्ति में आये हुए विशेषणों में केवल रूपगत असाधारणता ही नहीं है, एक उदात्त संगीत का आयोजन भी है। यदि इन विशेषणों में केवल साधारणता ही होती और नादसौन्दर्य की प्रधानता न होती तो वे उदात्त बिम्ब के अधिक निकट होते। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि उदात्त बिम्ब में वस्तु की असाधारणता होती है और नादप्रधान बिम्ब में संगीत की।

संक्षेप में यहाँ छायावादी अप्रस्तुतविधान की कुछ विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त भी बिम्ब-निर्माण की कई ऐसी कोटियाँ हो सकती हैं, जिनका उल्लेख इस वर्गीकरण में नहीं हो सका है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मूर्ति, बिम्ब अथवा चाक्षुष चित्र कल्पना के व्यापार के अन्तर्गत आते हैं और काव्य को अधिक ग्राह्य एवं प्रत्यक्ष बनाते हैं। मनुष्य की ऐन्द्रिय चेतना को तृप्त करना तथा रागवृत्तियों को झंकृत करना बिम्ब का ही कार्य है। इस दृष्टि से छायावादी कविता में ऐन्द्रियता तथा मूर्तिमत्ता की प्रधानता है।

रूप-विन्यास और छन्द

नामवर सिंह

रूप-विन्यास

भावावेग से उत्पन्न अन्तर्दृष्टि-दायिनी और सृष्टि-विधायिनी कल्पना ने कविता के रूप-विन्यास में इतना क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया कि बड़े-बड़े सुधी समालोचकों को भी छायावाद केवल नई काव्य-शैली प्रतीत हुआ। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था।' निःसन्देह द्विवेदी-युग की तुलना में छायावादी कविता का रूप-विन्यास इतना भिन्न और भव्य था कि अधिकांश पाठकों की आँखें चौंधिया उठीं, उस रूप की कान्ति से आतंकित होकर वे उसी को सब-कुछ समझने लगे। उस हुस्न का इतना रोब था कि देखने वाले उसके भीतर की और कोई चीज़ देख ही न सके। उस रूप-विन्यास के पीछे काम करने वाली रुचि और सौन्दर्य-भावना उनसे अनदेखी रह गई। मुग्ध दर्शक केवल रूप ही देखते रह गए।

रूप-विन्यास आन्तरिक सौन्दर्य-भावना का परिणाम होता है। छायावाद के पूर्ववर्ती द्विवेदी-युग की कविता में जो अत्यन्त सादगी और अनलंकृति, दिखाई पड़ती है, उसे सुधारवादी भावना का परिणाम समझना चाहिए। द्विवेदी-युग की कविता का रूप-विन्यास आर्यसमाजी सौन्दर्य-भावना से प्रेरित था, इसीलिए वह कविता आर्यसमाज के उपदेशकों की तरह अपने वेश-विन्यास में एकदम सादी थी, उसमें राग-रंग की वस्तुओं का सर्वथा बहिष्कार था। अपने को सजाकर मोहक बनाने की जगह केवल जरूरत की चीजों से ही काम लेने की प्रवृत्ति थी। उपमाएँ बहुत कम और भरसक पूर्वपरिचित ही रखी गईं। तथ्य के सीधे कथन का आग्रह अधिक था। जैसे प्रकृति-चित्रण करना हुआ तो—

> कहीं लौकियाँ लटक रही हैं, काशी-फल कुम्हाड़ कहीं हैं।

और यदि किसी मार्मिक तथ्य का उल्लेख करना हुआ तो—

> हम कौन थे ? क्या हो गए हैं ? और क्या होंगे अभी ?
> आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी।

न कहीं उपमा, न रूपक। व्यर्थ का शब्दजाल नहीं। जो बात है, वह ज्यों-की-त्यों रख दी गई। आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द नहीं। सुन्दर बनाने की परवा नहीं। जैसी रुचि वैसा रूप। सरल भाव, सरल रूप।

लेकिन छायावादी कवि के हृदय में प्रेम और शृंगार की भावना हिलोरें ले रही

थी। यदि किसी कवि के हृदय में साज-सज्जा के लिए बाल-सुलभ उमंग थी, तो किसी के मन में यौवन-सुलभ शृगार की तरंग और किसी में अल्हड मस्ती की बाँकी अदा। यह रुचि कोरी आवश्यकता से वही आगे की सोचती थी, उपयोगिता की सकुचित सीमा से निकल-कर वह कला के क्षेत्र मे नये-नये प्रयोग करने वाला कलाकार था। सादगी उसका आदर्श नहीं और न कट्टर शुद्धिवादी रूप-विन्यास मे उसका विश्वास। जहाँ एक उपमा से काम चल सकता है, वहाँ दस उपमाएँ उँडेल दी और वे भी एक-से-एक अनूठी। सीधी बात भी एक प्रकार की विलक्षण-सी भगिमा मे खडी है। भाव की तरगें रूप-सागर मे उठकर हिलोरें ले रही हैं। रूप की रेखाएँ बारीक भाव को सँजोए हुए हैं। सजावट कुछ ज्यादा हो गई तो क्या? रंग अधिक चटक हो गया तो हो। लोग कृत्रिमता का आरोप करते है तो करें। स्वयं प्रसाधन के ये साधन भी यदि कलरव-कोलाहल करके कविता का उपहास करते हैं तो करते रहें। कवि इसके कारण कही भी कुठित नही है, क्योंकि वह प्रिय के पथ पर चल रहा है—

प्रिय पथ पर चलती
सब कहते शृंगार!
मौन रही हार!

सेब की तरह रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण यदि बाहर झलक पडे तो कोई क्या करे? छायावादी कवि के हृदय मे सौन्दर्य का जो अपार सागर लहरा रहा है, वह यदि कविता के रूप-विन्यास को भी उमड़कर रजित कर गया तो क्या आश्चर्य!

परन्तु यह अलंकार-प्रियता, यह रूप-सज्जा रीतिवादी कविता से काफी भिन्न है। रीतिकाल और छायावाद की कविता के रूप-विन्यास मे वही अन्तर है जो दोनो युगों की नारियों अथवा पुरुषो के रूप-विन्यास मे है। रीतिकाल की कविता मध्ययुगीन राजा और रानी की तरह अनेक के आवेध्य, निवन्धनीय प्रक्षेप्य और आरोप्य अलकारों का पुज मालूम होती है। रीतिकालीन कविता की इस अलंकृति पर आधुनिक रुचि के लोगों ने काफी नाक-भौं सिकोडी है। स्वयं छायावादी कवियो ने भी उसकी कम आलोचना नही की। 'पल्लव' की भूमिका में इसका मजाक उड़ाते हुए पतजी कहते हैं: 'स्वस्थ वाणी मे जो एक सौन्दर्य मिलता है, उसका कही पता ही नही। उस 'सूधे पाँय न धरि सकै शोभा ही के भार' वाली ब्रज की वामक-सज्जा का सुकुमार शरीर अलकारो के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दवा दिया गया, उसके कोमल अगों में कलम की नोंक से असस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रग कही दीख ही नही पड़ता।'

परन्तु रीतिकाल की अलकृति का यह दोष नहीं था कि उसमे अनावश्यक बहुलता थी। जहाँ तक साज-सज्जा की अतिशयता का सवाल है, छायावाद रीतिवादी कविता से किसी बात मे कम नही है। स्वयं पंतजी ने ही 'आधुनिक कवि' पुस्तक-माला मे सकलित अपनी रचनाओं का 'पर्यालोचन' करते हुए स्वीकार किया है कि "छायावाद काव्य न रह कर अलकृत सगीत बन गया और उसमे केवल टेक्नीक और आवरण मात्र रह गया।"

इसलिए रीतिकाल और छायावाद की कविता के रूप-विन्यास का अन्तर अलकारो

की बहुलता और न्यूनता का नहीं, बल्कि उन अलंकारों के पीछे काम करने वाली रुचि अथवा सौन्दर्य-भावना का है। एक के पीछे मध्ययुगीन रुचि है तो दूसरी के पीछे आधुनिक रुचि। ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप आधुनिक युग ने मध्ययुग के अधिकांश अलंकारों और वेश-विन्यास के ढंग छोड़ दिए।

यह केवल यूरोपीय प्रभाव ही नहीं है। भारत में आधुनिक सौन्दर्य-बोध के विकास में निःसन्देह एक हद तक यूरोपीय सौन्दर्य-बोध का काफी योग है, परन्तु यह भी निश्चित है कि यूरोपीय प्रभाव के बावजूद भारत में स्वतन्त्र रूप से आधुनिक सौन्दर्य-भावना का विकास हुआ। छायावादी कविता का रूप-विन्यास इसी आधुनिक सौन्दर्य-भावना पर आधारित है।

इस सौन्दर्य-भावना की पहली विशेषता है स्वाभाविक सौन्दर्य की अधिक-से-अधिक रक्षा तथा उसकी सहजता का ध्यान रखते हुए अतिरिक्त प्रसाधन का आरोप।

रीतिकाल तक आते-आते इस सहज प्रसाधन का अभाव हो गया था। जिस सामन्ती सौन्दर्य-भावना का अभ्युदय कालिदास की रचनाओं में दिखाई पड़ता है वह सामन्ती व्यवस्था के ह्रास के साथ धीरे-धीरे परिपाटी-विहित हो गई। कालिदास की नायिकाएँ धातु-निर्मित अलंकारों से अधिक अशोक, कुरवक, कदम्ब, शिरीष, कमल आदि कुसुमों से अपना शृंगार करती थीं। लेकिन धीरे-धीरे जीवन का दायरा संकुचित होता गया। प्रकृति से सम्बन्ध टूटता गया। नारी की स्वतन्त्रता कम होने लगी, वह दिन-पर-दिन दीवारों से घिरती गई। उनके प्रसाधन की सामग्रियाँ बदल चलीं। उन सामग्रियों में से कुछ तो केवल परम्परा-पालन के लिए थीं और शेष भोग-विलास-सूचक। अतः प्रकृति में फूलों का स्थान धातुओं ने ले लिया। उसकी सौन्दर्य-भावना संकुचित और रूढ़िग्रस्त हो गई। काव्यात्मक अलंकार भी इस प्रभाव के सूचक हैं। रीतिकालीन कविता के अलंकारों में नवोन्मेष कम, रूढ़िपालन अधिक है। रूढ़ि-निर्वाह का सम्बन्ध तो हृदय से होता नहीं, इसलिए रीतिकालीन कविता के अलंकार एकदम ऊपर से आरोपित प्रतीत होते हैं। इस तरह अलंकारों के जबर्दस्ती आरोप से भाव-धारा दबी हुई जान पड़ती है। इसीलिए वे भार मालूम होते हैं, साथ ही कृत्रिम भी।

छायावादी कवि ने रीतिकालीन कविता की इस रूढ़िवादिता और कृत्रिमता को अच्छी तरह भाँप लिया। इसलिए उन्होंने कविता के रूप-विन्यास में भावों को प्रमुखता दी। और भावों ने जिस तरह विचारों के क्षेत्र में रूढ़ियों का विरोध किया, उसी तरह रूप-विधान के भी क्षेत्र में। जब उन्होंने देखा कि रूप-विधि-सम्बन्धी रूढ़ियों के पुराने ढाँचे में नवीन भाव अच्छी तरह नहीं अँट पाते तो उन्होंने प्राचीन रूप विधि का विरोध सैद्धान्तिक आधार पर किया। 'पल्लव' की भूमिका में पन्तजी लिखते हैं—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।"

मतलब यह कि जो अलंकार यह शर्त पूरी न करें, उन्हें छोड़ देना चाहिए और इस आधार पर छायावाद ने पुराने अलंकारों की परिपाटी छोड़ दी। आवश्यकतानुसार

उन्होंने नई परिपाटी का निर्माण किया।

' वस्तुतः अंग्रेजी में जिसे 'फ़ार्म' कहते हैं उसका सटीक अर्थ 'संगति' है, अर्थात् 'फार्म' वह है जिसमें भाव के साथ रूप की पूर्ण संगति हो। भाव और रूप में जहाँ असंगति दिखाई पड़े वहाँ रूप में कोई त्रुटि रह गई है। चारुता वही है जो 'प्रियेषु सौभाग्यफला' हो। 'फार्म' अथवा 'रूप' को संगति कहने का दूसरा अर्थ यह है कि स्वयं रूप-विन्यास के विभिन्न उपादानों और पक्षों में भी संगति होनी चाहिए, क्योंकि जब तक स्वयं रूप-विन्यास के भीतर संगति न होगी, वह समष्टि में भाव के साथ संगति कैसे बैठा सकेगा ?

आचार्यों ने रूप-विन्यास की इस आन्तरिक संगति को ही 'सौन्दर्य' नाम दिया है—

अंगप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
संश्लिष्टसन्धिबन्धः स्यात् तत् सौन्दर्यमुदाहृतम्।।

जब रूप-विन्यास अंग-प्रत्यंग से यथोचित सन्निविष्ट, संश्लिष्ट तथा सन्धिबन्ध होता है तभी वह स्वाभाविक प्रतीत होता है। भावों के साथ उसका मेल भी तभी बैठ सकता है और ऐसी ही स्थिति में किसी प्रकार के आभूषण बिना ही शरीर विभूषित मालूम होता है। सुढार और सुडौल अंग-यष्टि अपने आप ही शोभन है। इसी को आचार्यों ने 'रूप' अथवा 'फार्म' संज्ञा दी है :

अंगान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिना।
येन भूषितवद् भान्ति तद् रूपमिति कथ्यते।।

भाव और रूप की पूर्ण संगति के बाद कभी-कभी काव्य की रूप-विधि एक और कार्य करती है। अपनी सार्थकता प्रमाणित कर चुकने के बाद जब 'रूप' अथवा 'फार्म' किसी अतिरिक्त भाव की व्यंजना करता है तब वह 'प्रतीक' हो जाता है। 'झंझा' जब अपनी ध्वनि से आँधी-पानी दोनों का पूर्ण बोध करा देती है तो उसके रूप की सार्थकता पूरी हो जाती है। किन्तु इससे आगे बढ़कर जब वह किसी हृदय की व्यथा और क्षोभ की ओर संकेत करती है तो अपनी सार्थकता के अतिरिक्त कार्य करती है। काव्य के क्षेत्र में 'रूप' का यह अतिरिक्त कार्य 'प्रतीक' और 'व्यंजना' कहलाता है तथा वस्तु-जगत् में 'लावण्य'। रूप की इस व्यंग्यात्मक शक्ति को मोती की उपमा के सहारे समझाते हुए आचार्यों ने कहा है कि वह मोती की 'आब' अथवा 'तरल छाया' है :

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।।

छायावादी कवियों ने अपनी अनुभूतियों के अनुरूप रूप-विधि का निर्माण करते समय 'रूप' की संगति और सार्थकता के साथ-साथ उसके अतिरिक्त-संकेत की ओर भी ध्यान रखा। इसीलिए छायावाद की रूप-योजना में एक ओर जहाँ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों के व्यंजक चित्र मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रतीक-योजना भी काफ़ी मिलती है।

जब हम कहते हैं कि छायावाद ने पुराने अलंकार-विधान को छोड़ दिया तो इसका क्या मतलब होता है, इसे भी समझ लेने की जरूरत है। ऊपर से देखने पर तो छायावाद में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्मरण, रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास आदि प्राचीन

अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के भी चमत्कार छायावाद में मिलते ही हैं। फिर छायावाद ने किस बात में पुराने अलंकार-विधान का परित्याग किया? थोड़ी गहराई में जाने पर छायावाद की अपनी विशेषता स्पष्ट हो जायगी। उदाहरण-स्वरूप मध्ययुगीन और छायावादी कवि के बादल-वर्णन को लें। बादल के वर्णन में दोनों ही कवि औपम्य-विधान का सहारा लेते हैं। काले-काले बादलों को देखकर मध्ययुग के सेनापति कहते हैं कि 'माने हैं पहाड़ मानों काजर के ढोइ कै' और दूसरे कवि भी इसी तरह के उपमानों की सीमा में रहते हैं। परन्तु पंतजी के 'बादल' को देखें तो वह दर्जनों उपमानों का उन्मेष दिखाई पड़ेगा। कभी वह जमुना-जल में तैरते हुए 'विशाल जलयान-जाल' की तरह मालूम होता है तो कभी आकाश के मधु-गृह में लटके हुए 'स्वर्ण-भृंगों' की तरह, कभी वह अनिल-स्रोत में 'तमाल के पात' की तरह बहता है तो कभी गगन की शाखाओं पर 'मकड़ी के जाल' की तरह फैल जाता है। इतना ही नहीं, क्षितिज पर बादल की उठान 'संशय' सी मालूम होती है, उसका शीघ्र फैल जाना 'अपयश' सा प्रतीत होता है, नभ में उसका उमड़ना 'मोह' की तरह बाढ़ होना है और उसका फैलाव 'लालसा' सा दिखाई पड़ता है।

इस तरह की अप्रस्तुत-योजना छायावाद से पूर्ववर्ती सम्पूर्ण साहित्य में खोजे न मिलेगी। रूढ़ि-मुक्त उपमानों की जगह छायावाद ने एक दम नये उपमानों की योजना की और इसी बात में उसकी नवीनता है। और यह नवीनता मामूली नहीं है। उपमाएँ तो सभी कवियों ने दी लेकिन 'उपमा कालिदासस्य' ही कहा गया और कालिदास की यह क्षमता मामान्य नहीं है। उपमाओं की योजना से कवि की कल्पना-शक्ति का पता चलता है। अनूठी और मार्मिक उपमाओं की खोज वही कवि कर सकता है जिसके पास अपार कल्पना-शक्ति हो। छायावादियों के पास ऐसी ही कल्पना-शक्ति थी। इस शक्ति के द्वारा छायावादियों ने कभी रूढ़ उपमाओं के आधार पर भी नया चमत्कार पैदा कर दिया है, जैसे, आँखों के 'खंजन' और 'भ्रमर' आदि रूढ़ उपमानों को लेकर इन पंक्तियों में नवीन चमत्कार उत्पन्न की गई है :

> ⋯कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
> पंख फड़काना नहीं थे जानते,
> चपल चोखी चोट कर अब पंख की
> थे विकल करने लगे हैं भ्रमर को। ग्रन्थि—(पंत)

उपमाओं के क्षेत्र में छायावाद की एक विशेषता और है जिसकी ओर आचार्य शुक्ल का ध्यान सबसे पहले गया। वह विशेषता यह है कि छायावाद ने अपना ध्यान प्रभावसाम्य पर विशेष रूप से केन्द्रित किया, जबकि पुराने कवि आकार-साम्य की ओर अधिक दौड़ते थे। जैसे रीतिवादी कवि बादल के लिए आकार-साम्य पर 'हाथी' की उपमा देते थे, लेकिन जब पंतजी ने उसे 'धीरे-धीरे उठ संशय-सा' कहा तो उनका ध्यान बादल के धीरे-धीरे उठने वाले धर्म की ओर गया। प्रेयसी की 'चन्द्रिका की झंकार', 'तारिकाओं की तान' वगैरह कहना इसी प्रभावसाम्य का परिणाम है। रत्नावली दूर चले जाने पर निराला के 'तुलसीदास' को और भी मधुर लगने लगी। इस पर निराला कहते

हैं कि जिस तरह दूर की तान मीठी लगती है, उसी तरह प्रिया भी दूर जाकर मधुरतर प्रतीत होती है :

वह आज हो गई दूर तान। इसलिए मधुर वह और गान।

यहाँ उपमा की मार्मिकता इसी बात में है कि वह प्रभाव-साम्य पर आधारित है। प्रभाव-साम्य की विशेषता बतलाते हुए शुक्लजी कहते हैं कि "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुत के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।"

प्रभाव-साम्य ही आगे चलकर प्रतीक-योजना करता है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए शुक्लजी आगे कहते हैं, "छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत् होते हैं. जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन-काल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद; रजत, माधुर्य के स्थान पर मधु; दीप्तिमान् या कान्तिमान् के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार; अँधेरी रात या सन्ध्या की छाया, पतझड़, मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान; भाव-तरंग के लिए झंकार; भाव-प्रवाह के लिए संगीत या मुरली के स्वर इत्यादि।"

इस तरह छायावाद ने औपम्य-विधान की एक नई परिपाटी स्थापित कर दी। छायावाद ने जो आभ्यंतर प्रभाव-साम्य पर जोर दिया, उसका कारण उसकी अन्तर्दृष्टि-दायिनी कल्पना-शक्ति है। कल्पना-जनित अन्तर्दृष्टि के ही द्वारा छायावाद दो भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओं में निहित आभ्यंतर साम्य का पता लगा लेता था। इस अन्तर्दृष्टि के द्वारा छायावादी कवि चराचर के बीच स्थित सूक्ष्म सम्बन्ध-सूत्रों को देखने में समर्थ था और अपनी विराट् औपम्य-योजना के द्वारा वह मनुष्य-मनुष्य के बीच तथा मनुष्य और प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का महान् कार्य करता था।

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं : "साम्य का आरोप भी निस्सन्देह एक बड़ा विशाल सिद्धान्त लेकर काव्य में चला है। वह जगत् के अनन्त रूपों या व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे-महीन सम्बन्ध-सूत्रों की झलक-सी दिखाकर नर-सत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है, अखिल सत्ता के एकत्व की आनन्दमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बन्धन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलिका सामने पाते हैं तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौन्दर्य-धारा से मनुष्य भी और पेड़-पौधे भी रूप-रंग प्राप्त करते हैं।"

इससे जाहिर है कि साम्य का विधान जितने ही विराट् आधार पर प्रतिष्ठित होगा, हृदय में भी उतनी ही विराट् भावना का अभ्युदय होगा। यह कार्य समर्थ और विराट् कल्पना वाले कवि ही कर सकते हैं। छायावादी कवियों ने यह कार्य अत्यन्त सफलता के साथ किया जब कि रीतिवादी कवि इसमें असमर्थ रहे। छायावादी कवि की उपमाओं

ने धरती और आकाश को एक कर दिया :

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में तरल मोती सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज से ज्योत्स्ना के रजत-पारावार में।

यहाँ महादेवी जी ने अवनि और अम्बर को जो विशाल सीपी बना दिया औ उसमें अपार जलधि के तरल मोती की प्रतिष्ठा कर दी, वह छायावादी विराट् कल्पना क प्रमाण है। महादेवी जी को यह रूपक इतना प्रिय है कि थोड़े-से हेर-फेर के साथ इसे को उन्होंने एक और गीत में दोहराया है—

नीलम मरकत के सम्पुट दो जिनमें बनता जीवन मोती

नीलम आकाश और मरकत समुद्र, इन्हीं दोनों के बीच जीवन का मोती बनता है। यहाँ 'जीवन' शब्द श्लिष्ट है। समुद्र का जल ही बादल बनकर आकाश में उठता है और फिर वही समुद्र में बरसकर मोती की सृष्टि करता है। पंतजी ने जब—

विहंगम सा बैठा गिरि पर सुहाता है विशाल अम्बर

कहकर अम्बर के रूप में गिरि पर बैठे हुए विशाल विहंगम का चित्र आँखों के सामने रख दिया तो उसी विराट् कल्पना का परिचय मिला। इसी तरह—

अलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शतशत फन
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन

भी दूसरी विराट् उपमा है, अम्बुधि के रूप में सैंकड़ों फन उठाये हुए विशाल भुजंगम का चित्र।

और निराला तो अपने विराट् चित्रों के लिए प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ केवल एक चित्र देना पर्याप्त होगा। युद्ध के मैदान से राम लौट रहे हैं। उनकी जटा खुलकर बाहुओं, वक्ष और पीठ पर फैल गई है और ज्योतिष्क नेत्र चमक रहे हैं। निराला राम के इस विराट् रूप की उपमा उस पहाड़ से देते हैं जिस पर रात का अन्धकार उतर चला है और जिसके ऊपर दूर दो तारिकाएँ चमक रही हैं :

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

छायावादी अन्तर्दृष्टि ने यदि एक ओर विराट् उपमाओं की योजना की तो दूसरी ओर लघु-लघु अमूर्त उपमाओं का भी विधान किया। बात यह है कि छायावाद का दृष्टिकोण प्रधानतः भाववादी था। इसलिए छायावादी कवि प्रायः मूर्त वस्तुओं को भी अमूर्त से उपमित करते थे। मूर्त के लिए अमूर्त उपमाएँ पहले के कवियों ने भी दी हैं, स्वयं आदि-कवि ने अशोक-वन की सीता को एक पर एक कई अमूर्त उपमाओं से विभूषित किया है। हनुमान् ने विरह-विधुरा सीता को देखा तो ऐसा मालूम हुआ जैसे शोक के सागर में दुःख की ऊर्मि उठ रही हो, सुविभक्तांगी क्षमा हो। भवभूति ने भी सीता की उपमा विरह-व्यथा से दी है। किन्तु प्राचीन कवियों में इस तरह की अमूर्त उपमाएँ बहुत कम हैं। छायावादी कवियों की अपेक्षा प्राचीन कवियों की दृष्टि बहुत अधिक वस्तुवादी

थी। इसीलिए वे मूर्त की उपमा प्रायः मूर्त वस्तु से ही देते थे। इसके विपरीत अमूर्त उपमाएँ देना छायावाद में साधारण बात हो गई थी।

छाया तो यूँ ही काफी सूक्ष्म वस्तु है, पर उसकी उपमाएँ देते हुए पंतजी कहते हैं :

गूढ़ कल्पना सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय सी।

इस सूक्ष्मता और अमूर्तता के बावजूद छायावादी कविता ने चित्रात्मकता की रक्षा की अथवा चित्रात्मकता पर अधिक जोर दिया, यह कहना अधिक उचित होगा।

छायावादी कविता की चित्रमयता के पीछे छायावाद की सामाजिक चेतना का सैद्धान्तिक आधार है और यह आधार है वैयक्तिकता। चित्र विशेष का होता है, किसी एक का होता है। वह विशेष 'एक' चाहे कोई वस्तु हो अथवा व्यक्ति। सामान्य का चित्र नहीं हो सकता। सामान्य सूक्ष्म (ऐब्सट्रैक्ट) चीज है इसलिए वह चित्र-रचना के मूल-सिद्धान्त के विरुद्ध है। चित्र का आधार तो विशेष होता है, परन्तु उसका प्रभाव 'सामान्य' होता है। चित्र विशेष के द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति करता है। छायावाद जड़ सामान्यता के विपरीत वैयक्तिक वैशिष्ट्य का प्रवक्ता था, व्यक्तिवाद उसका बीज-मन्त्र था। इसलिए वह सिद्धान्ततः चित्रमयता का पक्षपाती था।

जिस युग के कवियों में विशेष के प्रति ऐसा आग्रह न था, उनमें चित्रमयता भी कम मिलेगी। द्विवेदी युग के कवि हर बात को सामान्य विचार के रूप में कहने के अभ्यस्त थे, जैसे—

अहा ! ग्राम्य जीवन भी क्या है !
क्यों न इसे सबका मन चाहे ?

ऐसी दशा में उनके लिए चित्र-रचना का कार्य असम्भव था।

रीतिकाल के कवि भी प्राकृतिक वस्तुओं का नाम गिनाकर चला करते थे, क्योंकि उनके युग की सामाजिक चेतना व्यक्ति को प्रधानता देने वाली न थी। उनके युग में 'विशेष' दब गया था, सर्वत्र जड़ सामान्यता का ही राज्य था। विशेषता तो वहाँ होती है जहाँ मौलिकता होती है और मौलिकता वहाँ आती है जहाँ व्यक्ति-विशेष को साहस के साथ प्रयोग करने की छूट होती है। लेकिन रीति-काल में तो मौलिकता की जगह रूढ़ि का राज्य था। साहसिक प्रयोग की जगह रूढ़ियों के निर्वाह को सुरक्षित समझा जाता था। इस तरह रूढ़ियों ने निर्विशेष सामान्यता की हिम-शीतल चादर सब पर उढ़ाकर छोड़ दिया।

छायावादी कविता में चित्रात्मकता कितनी है यह स्वयं महादेवी जी ने अपने गीतों के समानान्तर चित्र बनाकर प्रमाणित कर दिया। 'तरल मोती से नयन भरे' कहते ही हमारे सामने आँसुओं से भरी हुई दो आँखें आ जाती हैं। इसी तरह—

यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
चरणों से चिह्नित अलिन्द की भूमि सुनहली
प्रणत शिरों के अंक लिए चंदन की देहली

झरे सुमन बिखरे अक्षत सित
पल के मन के फेर पुजारी विश्व सो गया।

पढ़ते ही मन्दिर का सारा वातावरण आँखों के सामने साकार हो उठता है।

यह चित्रमयता थोड़े-बहुत अन्तर के साथ सभी छायावादी कवियों में है। प्रकृति-चित्रण में छायावादी कवियों ने बिम्बग्रहण कराने में विशेष सफलता प्राप्त की है। बात यह है कि किसी वस्तु का चित्र खड़ा करने के लिए उसके रूप और आसपास के वातावरण का पूरा ब्यौरा स्पष्ट रूप से देना पड़ता है और छायावादी कवियों ने यह किया। जैसे 'नौका-विहार' में पंतजी चाँदनी-चर्चित लहरों का चित्रण पूरे ब्यौरे के साथ इस तरह करते हैं—

साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।
फँसे फूले जल में फेनिल।

दृश्य-चित्रण में छायावाद ने प्रायः सभी इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के चित्र देने की चेष्टा की। अपनी कल्पना-जनित संवेदना से उन्होंने वर्ण, गंध, ध्वनि आदि के बड़े सूक्ष्म चित्र उतारे। जैसे लहरों पर बुझती हुई साँझ की लाली का यह चित्र—

लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर, पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।

अथवा 'सौंस में अम्बर, अम्बर में सौंस' या

उड़ गया, अचानक, लो भूधर फड़का अपार पारद के पर।
रव शेष रह गए हैं निर्झर! है टूट पड़ा भू अम्बर पर!
धँस गए धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल!

इस तरह के बहुत-से दुर्लभ पहाड़ी चित्र पंतजी ने खींचे हैं और हिन्दी-कविता की चित्रशाला में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जिस तरह वे भावात्मक और कल्पना-चित्रों की झड़ी लगा देते हैं, उसी तरह वचन में विलक्षणता भी लाते हैं। भावावेश में वचन आगे-पीछे परिवर्तित हो उठते हैं और विशेषण उलट-पुलट जाते हैं। एक विशेषण जिस विशेष्य के लिए आया है, उसका प्रयोग अन्य किसी अन्य विशेष्य के लिए हो जाता है। निःसन्देह विशेषणों के इस विपर्यय में भाषा [illegible] के साथ ही कल्पना का बहुत अधिक हाथ रहता है। छायावाद में इस तरह के विशेषण विपर्यय बहुत हुए। जैसे 'मुखरित' विशेषण बाँसुरी का है परन्तु पंतजी ने उसका प्रयोग कुंज के लिए किया है। इस 'मुखरित कुंज' कहने पर कवि कुंज की किस विशेषता की ओर संकेत करना चाहता है, इसके लिए पाठक में भी सर्जनात्मक कल्पना की आवश्यकता है। इसी तरह [illegible], [illegible], 'मूर्छित आतप', [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] आदि प्रयोगों में विशेषण-विपर्यय के कारण [illegible] का अर्थ किया जा सकता है। [illegible]
[illegible] है।

छायावाद के बारे मे आलोचकों का कहना है कि इस काव्य-शैली पर प्रतीकवाद की भी छाप थी। इस कथन की सत्यता परखना आवश्यक है। हर युग की कविता मे कुछ-न-कुछ उपमान रूढ होकर प्रतीक बन जाते हैं। जैसे मध्ययुग की कविता मे खजन अथवा मीन का नाम लेते ही आँख का बोध होने लगता है। उपमानो की इस रूढि के आधार पर कवियों ने रूपकातिशयोक्ति का भवन खड़ा किया। जब तुलसीदास ने लिखा कि—

अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के।।

तो बिना किसी उपमेय के ही कुछ तो प्रसंग से और कुछ इन रूढ उपमानो से सभी बाते स्पष्ट हो जाती हैं। हम समझ लेते हैं कि अरुण पराग सिंदूर है, जलज गोरी हथेली है, अहि साँवली भुजा है, ससि मुख है और अमृत उस मुख का लावण्य है। इस तरह यहाँ सिंदूर-दान की क्रिया की ओर सकेत किया गया है।

जहाँ तक ऐसे प्रतीको के प्रयोग का सम्बन्ध है, छायावाद ने भी कुछ नये उपमानो को प्रयोग की पुनरावृत्ति अथवा प्रसंगानुकूलता की सहायता से रूढ बनाने की चेष्टा की और इस तरह वे प्रतीक-रूप में ग्राह्य होने लगे। जैसे—

उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास, विचारों में बच्चों के साँस।

यहाँ उषा, मुकुल, चाँदनी आदि उपमानों के सकेतात्मक प्रयोग से स्पष्ट है कि कवि इनका प्रयोग प्रतीक-रूप मे कर रहा है। ये अपने किसी विशिष्ट गुण या धर्म की ओर लाक्षणिक सकेत कर रहे हैं। आरम्भ मे ऐसे प्रतीकों को समझने मे कठिनाई हुई, क्योंकि इनकी कोई परम्परा न थी। धीरे-धीरे युग की सामान्य भावधारा तथा सामाजिक चेतना के द्वारा ऐसा वातावरण बन गया कि वह प्रतीक सामान्य लोगों के रस-बोध के अग बन गये। इस तरह छायावाद ने नये प्रतीकों की सृष्टि की अर्थात् पूर्वपरिचित वस्तुओं मे नवीन अर्थवत्ता भर दी, उन्हें पूर्वप्रचलित अर्थ मे से विशेष अर्थ के लिए रूढ कर दिया।

इससे भी आगे बढकर छायावादी कवियों ने कभी-कभी व्यंजनागर्भी प्रतीकों का प्रयोग किया। ऐसा प्रायः वहीं हुआ है जहाँ किसी रहस्यात्मक सत्ता की ओर सकेत है। जहाँ कोई वस्तु अपने सामान्य उपलक्षण का तिरस्कार करके अथवा उससे आगे बढकर अपने से असम्बद्ध प्रतीत होती हुई किसी अन्य वस्तु की ओर सकेत करती है, वहाँ उसे व्यंजनागर्भी प्रतीक समझना चाहिए। ऐसी प्रतीक-व्यंजना मे छायावाद की रहस्य-कल्पना का हाथ है। छायावादी कवियों की जिज्ञासु वृत्ति को प्रकृति मे प्रायः किसी अन्य सत्ता का सकेत मिलता था। उस सत्ता को ठीक-ठीक न देख पाने के कारण उसे वे 'रहस्य' समझते थे। उनकी कल्पना-शक्ति इतनी दूर तक तो जाती थी कि इन प्रस्तुत वस्तुओं से परे कोई और सत्ता है, परन्तु वह सत्ता क्या है इसका रूप-निरूपण छायावादी कल्पना के बूते का न था। उस रहस्यात्मक सत्ता के आकर्षण, चारुता और प्रियता से प्रभावित होकर मानव-हृदय ने उस पर मानवीय रूप का आरोप कर डाला। उसके प्रति कवि का आकर्षण इतना अधिक था और इस आकर्षण मे उसे एक विशेष प्रकार के आभ्यंतर रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव होता था कि उसे प्रियतम अथवा प्रिया का पद दे दिया।

इस विराट् कल्पना के कारण छायावादियों ने यह मान लिया कि सम्पूर्ण चर-अचर

प्रकृति अथवा दृश्य जगत् एक प्रतीक है। यह अपनी अभिधा और लक्षणा में अविक विशेष सत्ता की ओर संकेत करता है। दृश्य से परे यह अदृश्य की व्यंजना करता है, इ अज्ञात की सूचना देता है। जब यह चराचर ही एक प्रतीक है तो इसकी एक-एक व के प्रतीक होने में क्या संदेह ? कल्पना की इस स्थिति में प्रतीकवाद की प्रतिष्ठा होती इसलिए दार्शनिक दृष्टि से प्रतीकवाद और रहस्यवाद का अभिन्न सम्बन्ध है।

छायावाद की रहस्य-कल्पना ने उस प्रियतम के रूप और उससे अपने सम्ब की अभिव्यक्ति अनेक प्रचलित-अप्रचलित प्रतीकों से की। जैसे उस अज्ञात प्रियतम रहस्यात्मकता के लिए प्राय: आवरणवाले प्रतीकों का प्रयोग किया गया। महादेवी दृष्टि में—

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन-सा वह आता।

और कभी-कभी

करुणामय को भाता है तम के परदे में आना।

यही नहीं कि वह 'छाया में' आता है, बल्कि स्वयं भी 'धूमिल घन-सा' है। प्रसाद का कहना है कि उनका प्रिय एक तो गोधूली के धुंधलके में आता है और दूसरे मुख पर घूंघ डालकर। परन्तु उन्हें सन्तोष है कि आंचल में दीप लिए आता है, इसलिए उस भीत प्रकाश में आवरण के बावजूद कुछ-न-कुछ मुख का आभास मिल ही जाता है। यह थोड़ा सा छिपना और थोड़ा-सा दिखना महादेवी के ही प्रिय-जैसा है। उनका भी धूमिल घ 'रश्मियों की छाया में' आने के कारण कुछ-न-कुछ दिख ही जाता है। प्रसाद कहते हैं—

शशि मुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए।

जितना छिपकर वह आता है, उतना ही छिपकर उससे मिलन भी होता है। इ प्रच्छन्न मिलन को छायावादी कवियों ने प्रायः 'स्वप्न-मिलन' के प्रतीक से दिखाया है। महादेवी के यहां 'वह सपना बन-बन जाता।' प्रसाद ने इसके लिए सूफी कवियों के 'मद' प्रतीक को अपनाया है। उनका प्रिय बेहोशी की दशा में आता है अथवा कभी-कभी स्वयं ही नशा बनकर आता है: 'मादकता से आए तुम' परन्तु ध्यान देने की बात है कि छायावाद में रहस्य-प्रतीक बहुत थोड़े हैं। ऐसी प्रतीकवादी रचनाएं छायावाद में बहुत कम हुई हैं। जिन्होंने ऐसी रचनाएं की हैं उनमें प्रसादजी के प्रतीक अन्य अप्रस्तुत-विधानों की ही तरह प्रायः रू और शुक्ल जी के शब्दों में, साम्प्रदायिक हैं। अन्य कवियों के प्रतीक भरसक नये हैं।

छन्द-योजना

वाक्य छन्द की इकाई है। गद्य हो चाहे पद्य—सभी में एक प्रकार का छंद होता है और वह छन्द वाक्य की गति और यति में निहित रहता है। वाक्य की गति और यति में एक लय ध्वनित होती है और इस लय का तार वक्ता के हृदय में होता है। हृदय के स्पंदन से ही वाक्य की लय निर्धारित होती है। इसलिए छायावादी कवि के जिस हृदय-स्पन्दन ने वाक्य-विन्यास को प्रभावित किया, उसी ने वाक्य-विन्यास के माध्यम से छंदोविधान का भी निश्चय किया। छायावाद का यह हृदय-स्पन्दन मुख्यतः प्रगीत-भावना थी। छायावादी

छंदों में से अधिकांश का निश्चय प्रगीत-भावना ने किया ।

खड़ीबोली की प्रवृत्ति के अनुकूल कौन-से छंद हैं, इनकी समस्या पूर्ववर्ती कवियों ने काफी वाद-विवाद तथा प्रयोग के बाद बहुत कुछ हल कर दी थी । द्विवेदी-युग से पहले भारतेन्दु-युग में ही इसका निर्णय एक हद तक हो गया था कि उर्दू कविता में प्रचलित फारसी के छंद हिन्दी के संस्कार के अनुकूल नहीं हैं । यद्यपि फारसी बहर में उसके बाद भी कई कविताएँ लिखी गईं और प्रसाद जी ने—

विमल इंदु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं ।

तथा

न छेड़ना उस अतीत स्मृति के खिंचे हुए बीन तार कोकिल ।

आदि कई सुन्दर कविताएँ फारसी बहर में लिखीं, फिर भी हिन्दी-कवियों ने सामान्य रूप से इसे हिन्दी-संस्कार के विपरीत मानकर नहीं अपनाया ।

जहाँ तक कवित्त-सवैयों में खड़ीबोली की कविता लिखने का सवाल है—द्विवेदी-युग के गोपालशरण सिंह, हितैषी आदि द्वारा खड़ीबोली में ललित सवैये और घनाक्षरी लिखे जाने के बावजूद यह मान लिया गया था कि ये छंद अपने पुराने रूप में आधुनिक भावों के अनुकूल नहीं हैं । श्रीधर पाठक ने १५ जनवरी, १८८८ के 'हिन्दोस्तान' में लिखा कि 'घना-क्षरी, सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छंद ऐसे हैं कि जिनमें खड़ीबोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आ सकती है ।'

स्वयं भारतेन्दु ने भी उन दिनों फारसी छंदों तथा घनाक्षरी-सवैया के अतिरिक्त एक लोक-प्रचलित छंद में पद्य-प्रयोग किया था, जिसकी एक द्विपदी इस प्रकार है—

साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है ।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है ।

घनाक्षरी-सवैया तथा फ़ारसी छंदों से बचने के लिए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के वर्णवृत्तों को पुनर्जीवित करने की कोशिश की और उस पुनरुत्थान-युग में अनेक कवियों ने उनका साथ दिया । उत्साह में आकर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पूरा 'प्रिय-प्रवास' संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में लिख डाला । फिर भी उसी प्रयोगकालीन अवस्था में कवियों ने स्वीकार कर लिया कि हिन्दी में संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का पुनरुत्थान असंभव और अरुचिकर है । आचार्य शुक्ल-जी ने इस प्राचीन रुचि का विरोध किया ।

अब कवियों के सामने एक ही रास्ता रह गया । यह रास्ता उन छंदों का था जिनमें भारतेन्दु ने 'प्रयोग' किया था और श्रीधर पाठक ने उस निबन्ध में जिनकी चर्चा की तथा रचना भी की । श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी', 'जगत-सचाई-सार' आदि की सफलता ने आधुनिक हिन्दी-कविता के छंद-पथ का द्वार खोल दिया । लोगों ने अनुभव किया कि सहज पथ यही है और इसी को प्रशस्त करना हमारा कर्तव्य है ।

श्रीधर पाठक के इन ललित छन्दों का आदि-स्रोत तत्कालीन लोकप्रचलित लाव-नियों में था, इसे सभी लोग जानते हैं । श्रीधर पाठक ने रचना-सिद्धि के द्वारा दिखला दिया कि कविता के छन्दों का स्रोत लोक-कंठ है । संस्कृत, फारसी तथा रीतिकालीन छन्दों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न व्यर्थ है । प्राचीन छन्दों के ढाँचे में आधुनिक भावनाएँ 'फिट'

नहीं हो सकती। आधुनिक भावनाओं की नवीनता की ओर ध्यान न देकर उनको पुराने छन्दों में कसने पर असफलता ही मिलेगी। स्वयं संत-भक्ति-काल के कवियों ने लोक-कंठ में उठने वाले गीतों के आधार पर ही अपनी कविता का छन्द-विधान किया था।

श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी के पथ पर चलते हुए छायावादी कवियों ने लोक-प्रचलित स्वरों को ही अपने छन्दों का आधार बनाया, परन्तु उन लोक-प्रचलित छन्दों को इतना परिष्कृत कर दिया कि अब उनका मूल स्रोत ढूंढ़ना भी दुष्कर है। पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी ने जो तीस-इकत्तीस मात्राओं वाला छन्द थोड़े-बहुत अन्तर के साथ अधिकाधिक लिखा है, वह कहीं तो लावनी के नजदीक है और कहीं आल्हा-कहरवा के। पन्तजी ने जिस छन्द में—

सुरपति के हम ही हैं अनुचर जगत्प्राण के भी सहचर

वाली 'बादल' कविता लिखी है तथा प्रसाद जी ने 'कामायनी' में—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह

लिखा है और निराला जी ने 'तोड़ती पत्थर' में जो—

फूले फूल सुरभि-व्याकुल-अलि गूंज रहे हैं चारों ओर

लिखा है और महादेवी जी ने जो—

निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार

लिखा है, उन सब के मूल में लोकप्रचलित आल्हा का ही छन्द है। यदि इसे कोई १३वीं-१४वीं सदी का पुराना छन्द कहकर यह सिद्ध करना चाहे कि यह भी तो छायावाद में प्राचीन का ही पुनरुद्धार है, तो उसकी शंका के समाधान के लिए यहाँ केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि प्रायः अधिकांश विद्वान् आज आल्हा की प्राचीनता में संदेह करते हैं और कुछ विद्वानों का तो दृढ़ विश्वास है कि आल्हा एकदम १६वीं सदी की आधुनिक रचना है। यह छन्द लोक-कंठ में कब आया यह तो कहना कठिन है, लेकिन [illegible] काव्य को देखते हुए मालूम होता है कि सबसे बड़े लोक कवि तुलसी को इस छन्द का पता न था। यदि उस समय लोक-कंठ में यह छन्द होता तो सोहर, नहछू, बरवै [illegible] वाले कवि इसे छोड़ देता — यह बात कयास के बाहर की मालूम होती है। [illegible] इसे मध्ययुगीन 'वीर' छन्द बताते हैं, परन्तु पिंगल-शास्त्र के इस 'वीर' छन्द का पता — यह भी अनुमान का विषय है। क्या यह संभव नहीं है कि शास्त्र में इसका समावेश 'आल्हा' के बाद उसे देखकर हुआ हो? जो हो, प्रयोग और प्रचलन की दृष्टि से यह छन्द आधुनिक है। मध्ययुग में इस छन्द का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता, जबकि छायावादी कविता में इसकी बहुलता है।

आवश्यकतानुसार छायावादी कवियों ने इसमें काट-छाँट और जोड़ करके [illegible] कई वैविध्यपूर्ण बना लिया। पूरी 'कामायनी' में इसी के भेद-प्रभेद हैं। 'चिन्ता' [illegible] मात्राओं का अन्त्य गुरु वाला छन्द है तो उसमें से अन्तिम लघु मात्रा कम करके [illegible] से तीस मात्राओं का छन्द रच दिया गया है, जैसे—

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई।

यदि 'हुई' के बाद एक मात्रा का 'थी' जोड़ दीजिए तो 'चिन्ता' का छन्द बन जाता। [illegible]

का भी यही छन्द है और इसी के आदि तथा अन्त में मात्रा-भेद द्वारा तीस मात्राओं का ही एक छन्द 'स्वप्न' में अपनाया गया है, जैसे—

संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती।

लेकिन 'स्वप्न' में प्रायः 'आशा' वाले छन्द की ही उद्धरणी हो गई है। 'एकांतवासी योगी' के—

सुनिए भाड़खंड वनवासी दयाशील है बैरागी।

के साथ इसे मिलाकर देखें तो पता चलेगा कि यह भी 'लावनी' है। इसी में दो मात्राएँ और जोड़ कर 'रहस्य' सर्ग के छन्द रचे गए हैं जैसे—

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में स्तब्ध हो रही अचल हिमानी।

'श्रद्धा' और 'काम' अथवा 'लज्जा' सर्ग के छन्द बत्तीस मात्राओं के हैं और वे भी मूलतः इन्हीं पर आधारित हैं। इन तीनों सर्गों तथा इड़ा सर्ग के छन्द की लय एक-सी है। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. **कौन तुम संसृति जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक ?** (श्रद्धा)
२. **मधुमय वसंत जीवन वन के बह अंतरिक्ष की लहरों में।** (काम)
३. **कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी।** (लज्जा)
४. **झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा-समीर।** (इड़ा)

इसी तरह पन्त-जी की अधिकांश कविताओं में 'लावनी' छन्द के ही भेदोपभेद मिलते हैं। 'प्रथम रश्मि','छाया', 'बादल', 'भ्रमग', 'बालापन', 'स्वप्न', 'अप्सरा' आदि का छन्द वस्तुतः लावनी ही है। इनमें से प्रत्येक कविता का एक-एक पद लेकर श्रीधर पाठक के 'एकान्त-वासी योगी' से मिलाने पर इस तथ्य की पुष्टि हो जाएगी और सच पूछिए तो इस छन्द के अलावा पन्तजी के पास और कोई छन्द है भी नहीं। निरालाजी ने 'यमुना के प्रति' इसी लावनी छन्द में लिखा है। तुकान्त कभी गुरु वर्ण से होता है और कभी लघु से।

'लावनी' के अतिरिक्त आगे चलकर कुछ और भी लोक-प्रचलित गीत छायावाद में अपनाये गये। महादेवीजी ने सोलह मात्राओं वाले चरण के एक गीत को अपनाकर उसके एक चरण को टेक और उसके द्विगुणित रूप की अन्तरा बनाकर बहुत-से गीत लिखे जो हिन्दी में काफी लोकप्रिय हुए। इस छन्द का आरम्भ सम्भवतः 'रश्मि' से ही हुआ है, उदाहरण के लिए—

कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा नींद के सूने निलय में !

तरह-तरह के लोक-गीत अपनाने तथा छन्द-प्रयोग करने में निरालाजी सबसे आगे रहे हैं। छायावादी कवियों में इन्हें छन्दोगुरु कहा जा सकता है। लोकगीत के उदाहरण के लिए 'अनामिका' का 'अपराजिता' शीर्षक गीत द्रष्टव्य है—

तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जग कर नयी ज्योति उतरी धरा पर

रंग से भरी हैं, हरी हो उठीं हर
तरु की तरुण-तान शाखें :
परी नागरी की—
हारीं नहीं, देख आँखें ।

इस तरह छायावाद की मुख्य छन्द-प्रवृत्ति को देखने से पता चलता है कि इसका प्रेरणा-स्रोत लोक-जीवन है और उसी से बहुत कुछ उपकरण लेकर छायावादी कवियों ने तरह-तरह के छन्द गढ़े ।

परन्तु जैसा कि सर्वविदित है, पुनरुत्थान-भावना से छायावाद का पिंड नहीं छूट सकता था । इसलिए मध्ययुग के अनेक हिन्दी-छन्दों को भी छायावादी कवियों ने पुनर्जीवित किया । 'रोला' अथवा 'काव्य' मध्ययुग का ऐसा ही छन्द है जो तब से लेकर आधुनिक युग तक काफी लोक-प्रिय रहा । ब्रजभाषा-कवि 'रत्नाकर'-जी ने तो सारा 'गंगावतरण' रोला में लिखा ही, श्रीधर पाठक भी 'ऊजड़ ग्राम' को 'रोला' में बाँध गए । पन्तजी को 'रोला' इतना प्रिय रहा कि 'उच्छ्वास' में एक 'रोला' फूटा तो 'परिवर्तन' में उसकी झड़ी लग गई । 'उच्छ्वास' में

गरज गगन के गान ! गरज गम्भीर स्वरों में

निकला, तो 'परिवर्तन' में

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर ।

प्रसादजी भी 'कामायनी' को भाव, भाषा, छन्द सभी तरह से छायावाद का प्रतिनिधि काव्य बनाने के प्रयत्न में उसके अंतर्गत 'रोला' को स्थान देना न भूल सके । 'संघर्ष' सर्ग पूरा-का-पूरा 'रोला' में है—

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह स्वप्न बना था ।

छायावादी कवियों ने 'रोला' को पुनर्जीवित करके उसके 'काव्य' नाम को सार्थक कर दिया । आगे 'निराला' ने भी 'सॉनेट' के लिए उसी छन्द को अपनाया ।

मध्ययुग के अन्य छन्द भी छायावाद में फिर से जिलाये गये । इनमें रूपमाला, सखी, राधिका, पीयूषवर्ष, प्लवगम, अरिल्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । प्रसाद का 'आँसू' सखी छन्द में है और 'कामायनी' का 'आनन्द' सर्ग भी उसी में है । परन्तु इन दोनों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि यह छन्द करुण रस के लिए ही उपयुक्त है, आनन्द की अभिव्यंजना में यह असफल हो गया है । महादेवी जी ने 'नीहार' और 'रश्मि' में इस छन्द के कुछ गीत लिखे हैं । लेकिन 'सखी' छन्द को जो सिद्धि 'आँसू' के

रो-रोकर सिसक-सिसककर कहता मैं करुण कहानी

में मिली है, वह महादेवी को न तो

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली

में मिली है और न

चिर तृप्ति कामनाओं का कर जाती निष्फल जीवन ।

में । वस्तुतः इस छन्द के लिए व्यथा के जिस भावुक उद्गार की आवश्यकता है, उसका निर्वाह 'आँसू' (प्रथम संस्करण) में हुआ है, वह महादेवीजी की बौद्धिक दुःखानुभूति में

दुर्लभ है। यह छन्द मुक्ति के लिए नहीं, रुदन के लिए है।

इसी तरह 'रूपमाला' का बहुत सफल निर्वाह प्रसादजी ने 'कामायनी' के 'वासना' सर्ग में किया है। इसी छन्द में उन्होंने 'मदिर माधव यामिनी का धीर पद-विन्यास' दिखलाया है।

'ग्रंथि' में 'राधिका' छन्द को सजीव कर दिया गया है। हिन्दी-कविता में पहली बार इस छन्द को सफल और सहृदय रचयिता प्राप्त हुआ। छन्द यह अत्यन्त अलंकृत है, इसलिए इसका प्रयोग बहुत कम क्या किसी ने नहीं किया है। 'इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर साथ ही' में जो थिरकती हुई लय है, उसे सँभालना साधारण कवि का काम नहीं हो सकता।

इन पुराने छन्दों को पुनर्जीवित करने में भी छायावाद का अपना वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ जाता है। छायावाद के भावुक कवि केशवदास की भाँति तरह-तरह के छन्दों के नमूने तैयार करने के लिए छन्द-रचना नहीं कर रहे थे। उनकी भावुकता यहाँ भी अपना काम कर रही थी। उन्होंने वृहद् पिंगल-शास्त्र से अपनी रुचि के अनुसार कुछ छन्दों का चुनाव किया और फिर उनकी लय में निहित भाव का पता लगाकर उपयुक्त भाव के लिए उपयुक्त छन्द का प्रयोग किया। छन्द का अर्थ उनके लिए केवल मात्रा, गुरु, यति आदि न था। उन्होंने पिंगल के व्याकरण को अपने भावों से रँग कर सजीव काव्य-शरीर बना दिया।

'पल्लव' की भूमिका में कुछ छन्दों की लय में निहित भावों पर प्रकाश डालते हुए पन्तजी लिखते हैं कि पीयूषवर्ष, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छन्द में करुणा है, रोला में बरसाती नाले का कलनाद, रूपमाला में कथन की मधुरता, राधिका में क्रीड़ा-प्रियता, अरिल्ल में निर्झरिणी की स्वच्छन्दता और चौपाई में बाल-चापल्य है। इसी विचार-पथ पर आगे बढ़ते हुए पन्तजी ने 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'परिवर्तन' में भाव-लय के अनुसार छन्द-लय और भाव प्रवाह के अनुसार चरणों का आकार परिवर्तित किया। 'उच्छ्वास' के आरम्भ में ही भावानुकूल लय और चरणों के आकार का परिवर्तन देखा जा सकता है—

सिसकते, अस्थिर मानस से
        बाल बादल-सा उठकर आज
        सरल, अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
        मेरे आँसू गूँथ, फैल गंभीर मेघ-सा
        आच्छादित कर ले सारा आकाश!...
मुझको पहुँचा करुण से —यह स्वर्गीय प्रकाश।

लय की दृष्टि से इस उच्छ्वास के प्रायः हर पंक्ति के लिए एक भिन्न लय का चुनाव किया गया है। इस लय-परिवर्तन के मूल में यह प्रवृत्ति काम कर रही थी कि निश्चित मात्रा के बँधे हुए चरणों और तुकान्तों की आवृत्तियों के बन्धन में किसी भावावेग को क्यों बाँधा जाय। जिस तरह भावावेग के सदैव [illegible] नहीं होंगे और न उनके प्रवाह-क्रम के कारण

ही सम रहते हैं, उसी तरह एक भाव की कविता के अन्तर्गत लय और चरणों में भी परिवर्तन होते रहना चाहिए।

इसी स्वच्छन्द-भाव की तर्क-सगत परिणति मुक्त-छन्द है। अर्थ की दृष्टि से 'मुक्त-छन्द' शब्द के भीतर स्वतोव्याघात है। छन्द का अर्थ ही है बंधन, फिर 'मुक्त-बंधन' का क्या अर्थ? यदि उसमें बंधन है तो फिर वह मुक्त कैसे है? इसीलिए कुछ लोगों ने इसका अर्थ किया है, छन्द से मुक्ति। उनके अनुसार 'मुक्त-छन्द' वह है जिसमें कोई छन्द ही न हो। लेकिन इस तरह की बातें वे ही कहते हैं जिनका संगीत-बोध कुण्ठित होता है। वस्तुतः 'मुक्त-छन्द' की कविता पढ़ने से किसी-न-किसी लय का बोध तो होता ही है। इससे यह पता चलता है कि मुक्त-छन्द में लय तो है परन्तु उसमें तुक नहीं है और उसके सभी चरण सम नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि मुक्त-छन्द में छन्द के बाह्य आडम्बर तो नहीं हैं, परन्तु उसकी 'लय' अवश्य है। इस तरह मुक्त-छन्द छन्द के बाह्याडम्बर से तो मुक्त होता है परन्तु उसकी लय में बंधा रहता है। छन्द के बाह्याडम्बर से मुक्त वह इसलिए होता ही है कि छन्द की आत्मा का अधिक से अधिक मुक्त विकास कर सके। अतः 'मुक्त-छन्द' का अर्थ है छन्द-रूढ़ि से मुक्ति, छन्द-मात्र से मुक्ति नहीं। इस तरह 'मुक्त-छन्द' शब्द में विरोधभास है, वास्तविक अन्तर्विरोध नहीं।

हिन्दी में मुक्त-छन्द के प्रवर्तक निराला-जी के मुक्त-छन्दों में इसी आदर्श का पालन दिखाई पड़ता है। उनकी पहली कविता तथा हिन्दी की पहली मुक्त-छन्द 'जुही की कली' में छन्द की रूढ़ियों से मुक्ति तथा आत्मा की रक्षा का आदर्श देखा जा सकता है—

> विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहागभरी
> स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु-तरुणी
> जुही की कली
> दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक में।

इस छन्द की लय घनाक्षरी की है। परन्तु इसके चरण विषम हैं और तुक भी नहीं है। मुक्त यह इसी बात में है कि भावावेग के अनुकूल इसके चरणों का विस्तार और संकोच किया गया है, साथ ही घनाक्षरी की तरह यह आठ ही चरणों में समाप्त नहीं हो जाता। जब तक इसका भाव-प्रवाह समाप्त नहीं होता तब तक इसका लय-प्रवाह भी बढ़ता चला जाता है। पुराना कवि इसी कविता को सम्भवतः तीन या चार घनाक्षरियों में लिखता।

सवाल यह है कि यदि इस कविता को चार तुकान्त घनाक्षरियों में लिख दिया जाता तो इसमें क्या कमी आ जाती? इस सवाल का ठीक-ठीक उत्तर तो प्रयोग कर के देखने के बाद ही दिया जा सकता है, परन्तु अनुमान के सहारे इतना तो कहा ही जा सकता है कि अलग-अलग घनाक्षरियों में इस कविता को लिखने पर सबसे पहले इसके भाव प्रवाह की अविच्छिन्नता समाप्त हो जाती। परन्तु इससे भी भयंकर बात यह होती कि समान रूप से बंधे हुए सम चरणों में इसमें स्थान-स्थान पर आये हुए भावों की गति का निर्वाह नहीं हो पाता। जैसे पवन की गति दिखलाने के लिए निराला ने जो यह लिखा है कि

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुंजों को पारकर
पहुँचा ।

उसे आठ-आठ वर्णों की यति वाले सोलह वर्णों के एक चरण और आठ-सात की यति वाले पन्द्रह वर्णों के दूसरे चरण की नपी तुली सीमा में कैसे व्यक्त किया जा सकता है । 'उपवन-सर-सरित गहन गिरि कानन' जैसे सत्रह वर्णों वाले भाव को घनाक्षरी में एक जगह कैसे रखा जाता ? फिर उसके बाद वाले 'कुञ्ज-लता-पुंजो को पारकर' बारह वर्णों के लिए घनाक्षरी के सोलह या पन्द्रह वर्ण वाले निश्चित चरण को छोटा कैसे किया जाता ?

तात्पर्य यह कि छायावाद ने मुक्त-छन्द का जो प्रचलन किया, वह भावस्वच्छन्दता की आवश्यकता से प्रेरित होकर । तुकों से छन्द की मुक्ति तो द्विवेदीयुग से ही प्रारम्भ हो गई थी लेकिन पूर्ण मुक्ति का कार्य बहुत बाकी था और उसे छायावाद के 'निराला' ने पूरा कर दिया । घनाक्षरी की तरह अन्य पुराने-नये छन्दों को भी निराला ने रूढ़ि-मुक्त करके मुक्त-छन्द नाम से चालू कर दिया । जो स्वयं मुक्त होता है, वही दूसरों को मुक्त कर सकता है । छन्दों की मुक्ति 'निराला' जैसे ही मुक्त-पुरुष के हाथ संभव थी । बात यह है कि जब तक चरण स्वच्छन्द न रहेंगे, नूपुर से मनमाना सुर कैसे निकलेगा ? निराला के ही शब्दों में—

नूपुर के स्वर मन्द रहे
जब न चरण स्वच्छन्द रहे ।

यही नहीं, सन् २८ में ही उन्होंने प्रगल्भ भाव से कविता के सम्मुख केवल एक चाह प्रकट की थी—

अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये ! छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह ।

मुक्त-छन्दों की रचना में एक और भी कारण सहायक हुआ । छापे की मशीन आ जाने से आधुनिक कविता श्रव्य की जगह पाठ्य हो गई । इस युग में कविता को पढ़कर रसास्वादन करने का अवसर मिला । फलतः कवि ने भी इस सुविधा से लाभ उठाकर अपने भावों को ठीक-ठीक अभिव्यंजना के लिए कविता के चरणों को इधर-उधर हटाने, विराम-चिह्नों के प्रयोग करने और कोष्ठकों आदि की सहायता लेने की ओर रुचि दिखाई । आधुनिक युग की कविता में (विशेषतः छायावाद-युग से) विराम-चिह्न, कोष्ठक तथा मुद्रणविधि छन्द का अंग बन गई । इन सभी दृश्य-विधियों के साथ छायावादी कवियों का भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया था, इनके द्वारा उनके मन में विशेष प्रकार के भावचित्र जगते थे और इसलिए पाठक के मन में वैसे ही भाव-चित्र जगाने के लिए वे इन चिह्नों और विधियों का सहारा लेते थे ।

तात्पर्य यह कि छायावाद की छन्द-रचना में भावावेग का बहुत बड़ा योग था । इसी बात को दूसरे शब्दों में प्रतीतात्मकता का प्रभाव कहा जाता है । इसका अर्थ है छन्द के अनुसार भावों को ढालने की जगह भाव के अनुसार छन्द को ढालना । यदि

भाव-शृंखला लम्बी है, तो छन्द-योजना भी उसी के अनुसार फैलती चली गई। और यदि भाव-शृंखला छोटी है, तो उसी छन्द में एक छोटी रचना खिल उठी, जिसे प्रायः गीत कहा जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि गीत वह है जिसमें टेक और अंतरा हो। यदि ऐसा है, तब तो 'कामायनी' के इड़ा सर्ग में जो टेक वाले पद लिखे गए हैं वे सभी गीत हैं। लेकिन जिनके पास थोड़ी-सी भी समझ है, वे जानते हैं कि 'इड़ा' के पद गीत नहीं हैं। अपने आप में पूर्ण होते हुए भी वे पद परस्पर साकांक्ष और एक लम्बी भाव-शृंखला की कड़ियाँ हैं।

बिना टेक और अन्तरा के ही पन्तजी के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में कई गीत पिरोये हुए हैं। टेक और अन्तरा तो गेयता के अनुरोध से कुछ बाद में लाये गये। इसीलिए जिसे आजकल गीत कहा जाता है, वे छायावाद की आरम्भिक कविताओं में कम मिलते हैं। गीतों के रूप का विकास छायावाद मे किस तरह हुआ, इसे देखना हो तो महादेवी जी के 'नीहार' से लेकर 'नीरजा' तक के विकास को सामने रख लें। 'नीहार' का

निद्रा की धो देता राकेश चाँदनी में जब अलकें खोल

वाली कविता भी प्रगीत ही है और छोटे-छोटे पादों मे विभाजित 'नीरजा' का

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात

भी गीत ही है, और आगे चलकर 'सान्ध्यगीत' मे महादेवीजी ने जो

मैं नीर भरी दुख की बदली

वाला गीत लिखा है, वह भी गीत ही है। अन्तर केवल उनके रूप-विन्यास का है, प्रगीत की आत्मा भावावेग तथा प्रभावान्विति उन सबमें समान भाव से मिलती है। निःसन्देह छायावाद मे गीत का रूप-संस्कार करने में महादेवीजी का कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

गीत तो निराला ने भी लिखे हैं और 'गीतिका' उनके सौ गीतों का संग्रह है। परन्तु 'गीतिका' के अधिकांश गीत संगीत को ध्यान में रखकर लिखे जाने के कारण प्रगीत के गौरवपूर्ण पद से हटकर संगीत के आसन पर चले गए हैं। इस दृष्टि से महादेवी के गीत अधिक सफल 'लिरिक' अथवा प्रगीत है।

प्रगीत और गीत मे थोड़ा अन्तर तो करना ही चाहिए। वस्तुतः चार-चार छः-छः या आठ-आठ चरणो के पुराने मुक्तको से अनिश्चित चरणों वाली मुक्तक कविता को अलगाने के लिए 'प्रगीत' अथवा 'लिरिक' शब्द का प्रयोग किया गया था। छायावाद के आलोचकों ने सम्भवतः 'प्रगीत' शब्द का प्रयोग छायावाद की उन तमाम कविताओं के लिए किया जो मुक्तक हैं। उन्हे 'मुक्तक' न कहकर 'प्रगीत-मुक्तक' इसलिए कहा गया कि वे अपने भाव और रूप में मध्ययुगीन मुक्तको से भिन्न हैं। 'लिरिक' के लिए प्रगीत-मुक्तक शब्द चलाने वाले आचार्य शुक्ल का अभिप्राय बहुत-कुछ यही था। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी जब पन्तजी को हिन्दी का सबसे बड़ा प्रगीतकार माना है तो प्रगीत के ही इस [illegible] को ध्यान मे रखकर, क्योंकि शुद्ध गीत तो पन्तजी ने प्रसाद, निराला और [illegible] कम लिखा है।

[illegible]न मुक्तक और आधुनिक प्रगीत का अन्तर समझाते हुए पं० हजारी- [illegible] लिखते हैं, "प्राचीन मुक्तकों में कवि की कल्पना कुछ ऐसे शास्त्रक

व्यापारों की योजना करती थी जिससे किसी रस या भाव की व्यंजना सुकर हो। आधुनिक प्रगीत-मुक्तक कवि के भावावेग के महत् क्षणों की रचना होते हैं, उनमें गीत की सहज और हल्की गति होती है। इनकी गुलदस्ता के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होने पर भी प्रवाहशील होते हैं और इनमें शास्त्ररूढ व्यापार-योजना की आवश्यकता नहीं होती। पुराने रूपकों में कवि-कल्पना की समाहार-शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी, पर आधुनिक मुक्तकों में कवि का भावावेग ही प्रधान होता है।"

प्राचीन मुक्तकों में द्विवेदीजी ने जिसे 'समाहार-शक्ति' कहा है, वस्तुतः वह छन्द के पूर्वनिश्चित रूढ ढाँचे में किसी तरह अपने को 'फिट' करने की विवशता है। प्राचीन मुक्तक का ढाँचा निश्चित था, वह छोटा-बड़ा नहीं हो सकता था, उसके माध्यम से व्यक्त होने वाला भाव भले ही छोटा-बड़ा हो जाय। पाँच चरण में व्यक्त होने योग्य भाव को चार चरण में भले कसना पड़े और तीन चरण में व्यक्त होने योग्य भाव को चार चरण में फैलाना पड़े तो पड़ जाय, परन्तु सवैया चार ही चरण का रहेगा। उन कवियों के लिए भावावेग का उतना महत्त्व नहीं था। छन्द का रूढ ढाँचा उनके लिए इतना मान्य था कि अपने भावों की बलि चढ़ाकर भी उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। ठीक इसके विपरीत छायावाद का दृष्टिकोण था। भाव के अनुसार गीत के पाद तीन भी हो सकते हैं, दो भी हो सकते हैं और चार या उससे अधिक भी हो सकते हैं। यही प्रगीतात्मकता है।

छायावाद-युग में प्रगीतात्मकता का इतना जोर था कि कोई महाकाव्य न लिखा जा सका। यदि 'कामायनी' जैसे 'महाकाव्य' लिखे भी गए तो वे लम्बा प्रगीत होकर रह गए।

छायावाद के भावावेग ने छन्दों के साथ ही कविता के रूप में भी काफी परिवर्तन कर दिया, उसने प्राचीन काव्य-रूपों से भिन्न गीत, प्रगीत और 'वन-बेला', 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज-स्मृति', 'तुलसीदास', 'परिवर्तन' जैसी लम्बी कविता तथा 'ग्रंथि', और 'कामायनी' जैसे एकार्थकाव्य-रूप दिए। इनके अतिरिक्त अंग्रेजी के 'ओड' और 'सॉनेट' जैसे भी काव्य-रूप रचे।

छन्द की ही तरह काव्य-रूपों की दृष्टि से भी निरालाजी का काव्य छायावाद में सबसे अधिक विविधतापूर्ण है। पूर्ववर्ती युगों की कविता की तुलना में छायावाद काव्य-रूप और छन्द-विन्यास दोनों दृष्टियों से बहुत अधिक समृद्ध है। रीतिकाल में प्रायः कवित्त, सवैया, रोला और दोहा केवल चार छन्दों का ही प्रचलन था। भक्ति-काव्य में भी छन्दों की संख्या सात-आठ से अधिक न थी। इसके अलावा मध्ययुग की छन्द-रचना में निर्जीव एकरसता तथा एकरूपता थी। उसमें वैयक्तिक भेद का सर्वथा अभाव था। छायावाद में जीवन के हर क्षेत्र की तरह छन्द-विन्यास में हर कवि का अपना वैयक्तिक वैशिष्ट्य था। कवि को इतनी स्वतन्त्रता थी कि चाहे जितने छन्दों का आविष्कार कर सकता था। निःसन्देह कवियों ने इस स्वतन्त्रता का सुन्दर सदुपयोग किया। हिन्दी-कविता उनके आविष्कारों और प्रयोगों से समृद्ध हुई।

भाषा-संस्कार

श्रीपालसिंह 'क्षेम'

सामाजिक परिस्थिति और युग-चेतना में परिवर्तन के साथ-साथ, वाह्य-'वस्तु' शास्त्र के 'रूप' और अभिव्यक्ति-पद्धति में भी परिवर्तन होता है। इसीलिए छायावादी कवियों को 'द्विवेदी-युग' से प्राप्त भाषा की विरासत में भी अनुकूल परिवर्तन-परिवर्धन करना पड़ा। 'द्विवेदी-युग' की प्रवृत्ति तर्क-प्रधान और स्थूल-वस्तु-मुखी थी, अतः उस युग की भाषा भी विश्लेषणात्मक, विचार-रत और सादी है। उनके सामने अपने लक्ष्य को देखते हुए विशेष कठिनाई भी नहीं थी। आर्यसमाजी बौद्धिकता के सहारे उन्हें जीवन-जगत् की जिन अपेक्षाकृत बाह्य और स्थूल उपदेशात्मक समस्याओं का अनावरण करना था, उसके लिए उनकी अभिधा-प्रधान इतिवृत्तात्मक भाषा पर्याप्त थी, पर जब 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की चेतना तीव्रतर हो उठी और समाज के परिवेश में स्थित व्यक्ति बाह्य परिस्थिति के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं और मानसिक कड़ियों के उलझाव के प्रति अधिक सजग हो उठा, तो उनकी अभिव्यक्ति के लिए उसे एक अधिक नमनीय, सूक्ष्म-सांकेतिक, चित्रात्मक और रंगमयी भाषा की आवश्यकता पड़ी। 'द्विवेदी-युग' में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी थी, छायावादी कवियों ने भी उसका तिरस्कार नहीं किया; हाँ,उसमें उन्होंने चयन द्वारा ऋण-धन अवश्य किया। अत्यन्त कठोर, लम्बे समास वाले पद और पुनरुत्थान की आवेश-बहिया में चले आए अकाव्यात्मक शब्दों को उन्होंने अवश्य छोड़ दिया और काव्यात्मक, कोमल-मसृण, भाव-व्यंजक शब्दों को ढूँढ़कर अपनी कृतियों में स्थान दिया। छायावाद के प्रारम्भिक कवियों में अधिकांश संस्कृत-साहित्य के भी अध्येता थे। 'प्रसाद' जी के निबन्ध स्वयं इसके प्रमाण हैं। 'निराला' जी ने भी संस्कृत-साहित्य का अच्छा स्वाध्याय किया था। 'पन्त' जी ने भी अपने व्यक्तिगत-संस्मरण-सम्बन्धी साहित्य-लेखों में 'रघुवंश', 'मेघदूत' आदि के अध्ययन और संस्कृत की कोमल-कान्त पदावलियों के प्रति अपने आकर्षण का संकेत किया है। महादेवी जी ने तो 'वेद' की ऋचाओं और 'सूक्तों' का भी अनुवाद किया है। इस प्रकार छायावादी कवियों ने काव्य-भाषा की रुक्षता और गद्यात्मकता में नवीन भाव-प्रभाव की स्फूर्ति जगायी है। 'पन्त' और 'निराला' ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश', 'गीतिका' की भूमिका और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' के निबन्धों में भाषा की प्रकृति, भाषा-भाव-सम्बन्ध, शब्द-भाव-संगीत तथा भाषा-सम्बन्धी अपनी नवीन समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

'पन्त' जी ने भाषा को भावानुरूप मोड़ देने के लिए उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन

तथा उसके पर्यायों के साहचर्य-जन्य परस्पर भेद-प्रभेद पर भी विचार किया है। 'लहर' और 'वायु' के पर्यायवाची शब्दों द्वारा उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है। अपनी 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में भाषा, और जातीय जीवन के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए 'निराला' जी ने कहा है कि ब्रजभाषा में भाषा-जन्य जातीय जीवन था और इसलिए जब ब्रजभाषा के बाद खड़ी-बोली का उत्थान हुआ, तो उसमें भी ब्रजभाषा के कुछ जीवन-चिह्न का होना आवश्यक है। यहाँ उनका मतलब संस्कृत के तत्सम शब्द-रूपों के तद्भव रूपों को ग्रहण करने से है। छायावादी कवियों ने 'निराला' जी के इस मत का उपयोग तो नहीं किया, पर उन्होंने तत्सम शब्द-रूपों को ग्रहण करते समय उन्हीं को स्वीकार किया जो माधुर्य, संगीत और उद्दिष्ट भाव-व्यंजना के अनुकूल पड़े। इसी से कहीं-कहीं 'बाण' की जगह 'बान', 'कण' की जगह 'कन' और 'किरण' की जगह 'किरन' के प्रयोग भी मिलते हैं, पर उन्होंने अधिकांशतः संस्कृत की शब्द-तत्समता का ही अनुसरण किया है। शास्त्रीय परम्परा में उन्होंने रीति-वृत्तियों का पालन नहीं किया है। 'कोमल भावों' के स्थल पर भी संयुक्त वर्ण और 'परुष' अक्षरों का प्रयोग कर दिया है। स्वयं 'निराला' जी ने 'पन्त' जी के वर्ण-प्रयोग पर टिप्पणी की है। उन्होंने 'रीति' और 'वृत्ति' के अलग-अलग निर्वाह के स्थान पर एक ही कविता या पद में भावानुकूल 'कोमल' और 'परुष' दोनों ही प्रकार के वर्णों का प्रयोग कर दिया है। यह विशेषता 'पन्त' की 'परिवर्तन' कविता और 'निराला' की 'अनामिका' की कविताओं, प्रगीत-मुक्तकों एवं मुक्त-छन्दों में भली-भाँति देखी जा सकती है। शब्दों द्वारा नाद-सृष्टि की प्रवृत्ति प्रारम्भ में बहुत दिखलायी पड़ती है। 'पन्त' की 'परिवर्तन' कविता में 'वासुकि', 'हाथी' और 'मेघ' के रूपकों के स्थल पर नाद-व्यंजना का चरम-रूप दिखलायी पड़ता है। 'निराला'जी की 'जागो फिर एक बार', 'जुही की कली', 'राम की शक्ति-पूजा' आदि में नाद-सृष्टि की अनुपम छटा प्रदर्शित हुई है। 'प्रसाद'-जी की 'लहर' की अंतिम लम्बी कविताओं में भी यह नाद-प्रसूति अत्यन्त मनोरम एवं मसृण पद-शय्या के साथ उपस्थित हुई है—

> नन्दन की शत-शत दिव्यकुन्तला
> अप्सराएँ मानों वे सुगंध की पुतलियाँ
> आ आकर घूम रहीं अरुण अधर मेरा
> जिसमें स्वयं ही मुस्कान खिली पड़ती।
> नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
> चरण अलक्तक की लाली से।
> जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
> पी रही दिगन्त-व्यापी सन्ध्या-संगीत को
> कितनी मादकता थी ?
> लेने लगी झपकी मैं
> सुख-रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती······('लहर')

'प्रसाद'-जी की अभिव्यक्ति-चेतना की मौलिकता का परिचय उनकी ब्रजभाषा की प्रारम्भिक रचनाओं से ही मिल जाता है। उन्होंने 'आँसू' पर जो कवित्त लिखे हैं,

उनकी कल्पना-कोमलता, लाक्षणिक भंगिमा और मूर्तिमत्ता में एक ताजगी है. इन रचनाओं में किसी दृश्य-विशेष को अपने ढंग से कहने का प्रयास होता है। उपमा-उत्प्रेक्षाओं में एक नवीन विच्छित्ति और 'अप्रस्तुत'-विधान में निजी निरीक्षण का पुट मिलता है

> आवै इठलात जलजात कैसो बिन्दु कैधौं,
> कैधौं खुली सीपी माँहि मुक्ता दरस है।
> कढ़ी कंज-कोष तें कलोलिन के सीकर तें
> प्रात-हिमकन तें न सीतल परस है।
> देखे दुख ऊनो, उमगत अति आनंद सों
> जान्यो नहिं जाय यहि कौन सों हरस है।
> तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
> ऐरे मेरे आँसू ये पियूष तें सरस है॥

'प्रमाद' की भाषा में उपचार-वक्रता, स्थूल साम्य को छोड़कर सूक्ष्म साम्य विधान की विशेषता प्रारम्भ से ही पायी जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में कामना को नूपुर कहा गया है। भगवत्प्रार्थना में सांसारिक सुखों की कामना जिस प्रकार बाधक बनती है और मन प्रार्थना से उचटकर कामना के स्वर्ण-जालों में उलझ जाता है, इसकी अभिव्यक्ति कितनी मार्मिकता के साथ 'कामना' को नूपुर कहकर की गयी है। कामना और नूपुर में रूपाकारादिक कोई स्थूल साम्य नहीं, पर मधुर झंकार और कामना के आवर्तन का साम्य कितना सूक्ष्म और अनुभूतिमय है—

> **जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार,**
> **तभी कामना के नूपुर की, हो जाती झनकार।** —('झरना')

'प्रमाद' जी ने अपने लेख 'यथार्थवाद और छायावाद' में स्वयं भाषा-सम्बन्धी इस समस्या की ओर संकेत किया है कि "आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था।" इस प्रकार आभ्यन्तर भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नवीन शब्दों की भंगिमा का प्रयोग किया। इस प्रकार छायावादी कवियों की दृष्टि वस्तु के बाह्य आकार की अपेक्षा अपनी अनुभूति में आनेवाली सूक्ष्म व्यंजनाओं की ओर रही। इसके लिए इन लोगों ने वक्रताओं और 'लक्षणा'-'व्यंजना' पर आश्रित सूक्ष्म अभिव्यंजनाओं को मूलाधार बनाया। इससे एक ओर तो भाषा में चित्रात्मकता आयी और दूसरी ओर सूक्ष्म अनुभूतियों की व्यंजना हुई। चित्रात्मकता का आधार ज्ञानेन्द्रियाँ और कल्पनाएँ हैं। कहीं नादव्यंजक शब्दों द्वारा वस्तु-दृश्य का स्वर-चित्र निर्मित करते हैं, कहीं उपचार-वक्रता, पर आश्रित सूक्ष्म-साम्य-मूलक और प्रभावसाम्याश्रित 'अप्रस्तुतों' द्वारा सूक्ष्म दृश्य-प्रभावों की तद्वत् अनुभूति कराने के लिए स्पर्श-मूलक, गन्ध-मूलक, [illegible] चित्रों की सृष्टि करते दिखायी पड़ते हैं। 'प्रसाद' जी ने इस सांकेतिकता की [illegible] कर [illegible] हेतु की ओर प्रेरित होना कहा। इसी कारण [illegible] में [illegible] इन शब्दों की भंगिमा-व्यंजना को समझने में साधारण पाठकों को ही नहीं, [illegible]

के विद्वानों-आलोचकों को भी कठिनाइयाँ हुईं। हमारे पिछले साहित्य में वाचक और व्यंजक शब्दों की ही प्रधानता रही। लाक्षणिकता का उतना अधिक उपयोग नहीं किया गया था। लक्षणाएँ एक ही प्रकार से प्रयुक्त होते-होते रूढ़ि-सी बन गयी थीं। 'घनानंद' और 'ठाकुर' की लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ प्रयोग-वैचित्र्य के रूप में ही गृहीत होकर जैसे वहीं रुक गईं—

एरी 'ठाकुर' दोउन के उर तें उमड्यो रँग हूँ दोउ ठावँ पै री।
हलि कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नँदगाँव पै री ॥

अपनी अपनी अटारी पर खड़े परस्पर देखते हुए राधिका-कृष्ण अनोखा रंग बरसा रहे हैं। देखनेवाली सखी कह रही है कि देखो, बरसाने पर कृष्ण-छटा की काली घटा और नंदग्राम पर राधिका की गोरी छटा की घटा अनुराग की वर्षा कर रही है, दोनों ही भीग रहे हैं। लक्षणा के सहारे कितनी सुन्दर भावाभिव्यक्ति हुई है और कितनी सचित्रता के साथ ! किन्तु ऐसी लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ छायावादी युग के पूर्व के साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति नहीं। सच कहा जाय तो हमारे यहाँ सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में, साहित्य-शास्त्रों के विवेचन-उदाहरण की बात छोड़ दीजिए, सर्जनात्मक साहित्य में लक्षणाओं के सौन्दर्य का कम प्रयोग हुआ है। छायावादी युग में इनका बड़ा ही सुन्दर और प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ है। इसी से इस युग की भाषा सबसे अधिक लाक्षणिक है—

ओ मेरे प्रेम विहँसते, जागो, मेरे मधुबन में—(आँसू)
वह हँसी और यह आँसू, घुलने दे—मिल जाने दे,
बरसात नई होने दे, कलियों को खिल जाने दे।—(आँसू)

यहाँ नहीं मुँह ढककर पड़ी (गुप्त) पीडाएँ सुमन-सी खिल पड़ीं—

है पड़ी हुई मुँह ढक कर मन की जितनी पीड़ाएँ,
वे हँसने लगीं सुमन-सी करती कोमल क्रीड़ाएँ।— (आँसू)

'पन्त' जी की भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्य सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। उनके यहाँ विचारों में बच्चों की साँसें होती हैं और अधरों में 'उषा' होती है, 'वेदना के सुरीले हाथ' होते हैं, 'आँखों से उमड़कर चुपचाप कविता बहती' होती है। 'निराला' 'गीतिका' में 'कल्पना के कानन की रानी' से 'मानस की कुसुमित वाणी' कहकर 'मृदुपद' आने की मनुहार करते हैं। महादेवीजी के पद भी 'अरुण-स्मृति से तिमिर में स्वर्णवेला बाँध देने' का उत्साह रखते हैं। उनके प्राणों से पीड़ा सुरभित चन्दन-सी लिपटी रहती है। आँखों के आँसू उजले होते हैं, और सबके सपनों में सत्य पलता है—

(क) दुलबती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अरुण-स्मृति से तिमिर में .
(ख) प्रिय जिसने दुख पाला हो
जिन ...
तूफानों ...

वर दो, मेरा यह आँसू
उसके उर की माला हो।

(ग) 'सब आँखों के आँसू उजले, सबके सपनों में सत्य पला।

सुभद्राकुमारी चौहान राष्ट्रीयता की उमंग में पाप से असहयोग करने का आदेश देती है—

विजयनी माँ के वीर-सुपुत्र, पाप से असहयोग लो ठान।

अभिधावादी 'बच्चन' जी भी 'इस पार-उस पार' में कैसी लाक्षणिकता से काम ले रहे हैं—

'दृग देख जहाँ तक पाता है, तम का सागर लहराता है।
फिर भी उस पार खड़ा कोई हम सबको खींच बुलाता है।
मैं जाऊँगा, तुम आओगे, कल परसों सब संगी-साथी,
दुनिया रोती-धोती रहती, जिसको जाना है, जाता है।
मेरा तो जो डगमग होता, लख तट पर के हिलकोरों को।
एकाकी जब मैं पहुँचूँगा, मझधार न जाने क्या होगा।

छायावादी कवि अन्त:प्रेरित और कल्पना-प्रवण हैं। उनके काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों पर ही कल्पना का बड़ा प्रसार है। वे कल्पना के सहारे मानसिक अनुभूतियों, संवेदनों, मानस-प्रत्ययों एवं भावनाओं का सन्तुलन, समन्वय और सामञ्जस्य द्वारा नव-विधान तो करते ही हैं, भावों के अनुकूल छन्द, लय एवं शब्द-चयन में भी वे कल्पना से पर्याप्त रूप से प्रेरित हैं। स्वप्न एवं वैयक्तिक अनुभूतियों को प्रश्रय देते हुए भी उनकी कविता में सामाजिक अर्थों एवं सन्दर्भों का ध्यान रखा गया है। इसी से उन कवियों की भाषा में असम्बद्ध एवं असामाजिक अनुबन्धों की शरण नहीं ली गयी है। उनकी भाषा में अलंकार, प्रतीक आदि नवीन भले ही हों, पर वे सामाजिक अनुबंध एवं पारंपरिक चेतना के अनुकूल होने के कारण असामाजिक और रुचि-विघातक नहीं। उन्होंने विषय-वस्तु के नवीन क्षेत्रों की खोज की और उनके नवीन और अछूते पहलुओं को प्रकाशित किया, किन्तु उन्होंने विषय-वस्तु के बारे में ऐसी व्याख्याएँ या उद्भावनाएँ नहीं कीं, जो समाज की मान्य सांस्कृतिक रुचि के सर्वथा प्रतिकूल हों। इसलिए छायावादी कवियों ने जब संस्कृत के नवीन और स्वल्प-प्रयुक्त शब्दों को खोजा-चुना तो उसी सौंदर्य-चेतना को मूल मानकर जो अब तक उनकी दृष्टि में अपेक्षाकृत स्थूल, कायिक और वस्तुवादी भले ही रही हो, पर विजातीय नहीं रही। इसी से हमें 'प्रसाद' में कालिदास की उज्ज्वल शृंगार-दृष्टि और भवभूति की-सी अनुभूति-सान्द्रता भी मिल जाती है। 'निराला' में भारवि-सा अर्थ-गौरव और 'पन्त' में जयदेव-सा भाषा-मार्दव है। इन कवियों की मर्मस्पर्शी कल्पना-दृष्टि ने वस्तुओं के अन्तर को छूकर, उनमें प्रेरित मानस-प्रत्ययों के अन्त:संगीत की लय में ही, उनके शब्द-चित्रांकन का प्रयास किया है। उन कवियों के शब्दों में रूप, गुण एवं ध्वनि को सचित्र कर देने की प्रवृत्ति ने ही उन्हें 'अप्रस्तुत'-विधान, रूप-योजना चित्र-सृष्टि एवं विच्छित्ति-प्रकाश की ओर प्रवहमान किया है। 'प्रसाद' के श्रद्धा-रूप-वर्णन में आकार एवं गुणों की सचित्रता छायावादी भाषा-शैली का उच्च-बिंदु है!

'अप्रस्तुत' का चयन और गुणों की व्यंजना उनकी कल्पना के दिग्विजय का प्रतीक है—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग॥
... ...
उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी-से भीगी भर मोद।
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद॥

उपमानों की अभिनवता और सौंदर्य की सूक्ष्म चेतना के उदाहरण-स्वरूप निम्न-पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती हैं—

माधवी निशा की अलसाई,
अलकों में लुकते तारा-सी,
क्या हो सूने मरु अंचल में
अन्तःसलिला की धारा-सी।
... ...
उठती है किरनों के ऊपर
कोमल किसलय की छाजन-सी,
स्वर का मधु निस्वन रन्ध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंसी।

'निराला' जी ने वीणा-वादिनि से नव-स्वर और नव-छन्द के साथ नवीन लय की भी माँग की थी, न केवल अपने लिए वरन् नवीन कविता के कंठ मात्र के लिए—

नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कंठ नव जलद मन्द्र रव
नव नभ के नव-विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे।

'पंत' और महादेवी ने खड़ीबोली के काव्य-कलेवर को व्यंजना की कान्ति से समुज्ज्वल किया है। 'नौका-विहार' कविता में 'पंत' द्वारा प्रस्तुत 'तन्वंगी, ग्रीष्म-विरल गंगा' का शब्द-चित्र अपनी रूपवत्ता के लिए दर्शनीय है—

शान्त, स्निग्ध ज्योत्स्ना-उज्ज्वल।
अपलक, अनन्त, नीरव भूतल।
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल।

काँपती-थरथराती नौका का स्पन्दन भी निम्न शब्दों में अनुभाव्य है—

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर।

कविवर 'निराला' की 'बादल राग' और 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी कविताएँ नाद-व्यंजना की अनुपम निधि हैं—

झूम झूम मृदु गरज गरज घनघोर।
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर गिरि-सर में,
घर मरु तरु मर्मर, सागर में,
सरित्, तड़ित् गति चकित पवन में,
आनन आनन में रव घोर कठोर,
राग अमर अम्बर भर निज रोर। ('परिमल')

'राम की शक्ति-पूजा' में हनुमान्-प्रेरित वायु का प्रलय-चित्र 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों ही है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल राशि-राशि जल पर चढ़ता, खाता पछाड़।
तोड़ता बंध प्रति सन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

प्रशांत घनी-काली रजनी में बिजली की चमक सहसा रात की निद्रा में चौंक उठने से कितना साम्य रखती है। बिजली की चमक को स्वर्ण-कंकण कहना कितना चित्र-विधायक एवं व्यंजना-पूर्ण है—

चौंकी निद्रित
रजनी अलसित,
श्यामल पुलकित कम्पित कर में दमक उठे विद्युत् के कंकण,
लाये कौन संदेश-नये घन! —(महादेवी)

नवीन और कोमल-मसृण प्रतीकों तथा अप्रस्तुतों से महादेवी की कविता-मंजूषा 'छवि-गृह-दीप-शिखा' की भाँति जगमगा उठी है। उनके शब्दों पर उनकी अनुभूति का पानी और भी छटा लाता है। पीड़ा को भी इतनी सुन्दर एवं मधुर बना देने की शक्ति मीरा के बाद महादेवी जी में ही दिखाई पड़ी। अन्तर यही है कि मीरा में आन्तरिक लगन का उन्माद है अत: भाषा के झीने आवरण में वह स्पष्ट पछाड़ खाती दिखायी पड़ती है, किन्तु महादेवीजी में वह संयम से मार्जित है, अतः भाषा का कलात्मक पक्ष उसे और चमकता है। दोनों की उक्तियों और भाव-प्रकाशन में दोनों के युगपरिवेश का प्रभाव स्पष्ट है। समाज में स्त्री के प्रति परिवर्तित धारणा भी इसके लिए उत्तरदायी होगी। इसी से महादेवी जी की वाणी में अधिक संयम, दुराव तथा गम्भीरता है, क्योंकि मीरा अपने मोहन के दर-दर की भिखारिन है और महादेवी अपने प्रियतम की एकान्त पुजारिनी। भाषा में महादेवीजी की वर्ण-योजना नितान्त रमणीय और आकर्षक होती है। 'नीरद', 'पाटल', 'मलय' और 'स्वर्ण' उनकी कल्पना-सृष्टि के अभिनिवेश हैं।

'पन्त' ने स्वर और व्यंजन-वर्णों का विवेचन करते हुए कहा है कि स्वर ही काव्य संगति के मूल तन्तु हैं। उन्हीं पर भावना का स्वरूप निर्भर करता है। नाद-व्यंजना को छोड़कर जिसमें व्यंजनों का प्राधान्य होता है, स्वर ही भावनाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। अपनी 'बादल' कविता के उदाहरण से उन्होंने भावनाभिव्यक्ति में स्वरों के योग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'इन्द्रधनु-सा आशा का छोर' में 'सा', 'आ', 'शा', 'का' में 'आ' का स्वर आशा का फैलाव व्यक्त करता है और 'दल-बल-युत घुस वातुल चोर' में लघु व्यंजन-वर्ण चोर के घुस आने और उड़ा ले जाने का व्यापार व्यंजित होता है। इस प्रकार 'पन्त' जी ने शब्द-संगीत के साथ वर्ण-संगीत की भी परख की। छायावादी कवियों ने 'विशेषो गुणात्मा' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के साम्प्रदायिक अर्थ में 'रीति' को कभी ग्रहण नहीं किया, फिर भी भावानुसार वर्ण-योजना की छटा मिल ही जाती है। 'गीतिका' में 'निराला' ने नाद-सौन्दर्य का सजग प्रयत्न किया है। आभरणों की झंकृति कितनी श्राव्य है—

> कण-कण कर कंकण, प्रिय
> किण-किण रव किंकिणी,
> रणन-रणन नूपुर उर-लाज,
> लौट रंकिणी,
> और मुखर पायल स्वर करे बार-बार।

'मेरे गीत और कला' नामक निबन्ध में श्री 'निराला' जी ने 'ट', 'ण', 'व', 'ल' को श्रुति-कटु घोषित किया है और 'पन्त' जी पर भी इसका आरोप किया है। तत्सम संस्कृत-शब्दों के प्रयोग-बाहुल्य के कारण 'रीति'-'वृत्ति'-'गुण'-पद्धति का शास्त्रानुकूल पालन इस युग का कोई भी कवि नहीं करता, फिर भी उनमें एक स्वच्छन्द संगीत है जो पुराचीनता और रूढ़ि का विरोधी है।

शब्द-प्रयोग में जहाँ इन कवियों ने शब्दों की ध्वनि और उनके भाव-परिवेश का अनुशीलन-परिशीलन किया है, वहाँ कभी-कभी शब्द-प्रदर्शन की वृत्ति से भी बह गये हैं। 'निराला'जी ने नारी के सामान्य 'सुन्दरी'-अर्थ में 'तन्वी' का प्रयोग कर दिया है ('गीतिका' में)। 'पन्त'जी ने 'सूत्र-धार' की जगह 'सूत्राधार' शब्द प्रयुक्त किया है। 'हरा' की जगह 'हरियाला', 'लहर' से 'लहरीला', 'किरण' से 'किरणीला' और 'अग्नि' से 'अग्नीला' प्रयोग दिखायी पड़ते हैं। 'पन्त'जी की स्वच्छन्दता का बाद के कवियों ने अनुचित लाभ भी उठाया है। इससे जहाँ नये-नये शब्द और नवीन अभिव्यक्ति-भंगिमा के द्वार खुले वहाँ भाषा का अभिमान भी बिगड़ा और नवीन युवक-कवियों में लिंग-वचन के साधारण दोष साहस के साथ सामने आने लगे। पर आगे चलकर यह प्रवृत्ति परिमार्जित भी हुई और शम्भूनाथसिंह, 'भारती' आदि में ये भूलें बहुत सुधर गयीं। इन कवियों ने हिन्दी के नियम पर समासें और विशेषण बनाने की प्रवृत्ति को आश्रय देते हुए संस्कृत के प्रत्ययों से असिद्ध शब्द-रचना की प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया। नये कवियों में गिरधर गोपाल ने उर्दू और संस्कृत के शब्दों से ऐसे सलोने विशेषण अधिक बनाए हैं। उनकी '[illegible]' कविताओं में यह मोह प्रायः द्रष्टव्य है। इसी प्रकार छायावादी काव्य में कुछ

ऐसे भी विशेषण बहुधा प्रयुक्त हुए हैं, जिन्होंने पहले तो नवीनता के नाते आकर्षण व ताजगी का सन्देश अवश्य दिया, पर बाद में अति-प्रयोग एवं निरुद्देश्यता के कारण प्र हीन और पद-पूरक मात्र बन गए। चिर, मधुर, रजत, स्वर्ण, नव, रे, मन्दिर, प्रशा तार, झंकार, अनन्त, असीम, मुकुल आदि ऐसे ही शब्द हैं। नादात्मक दृष्टि से कवियों को शब्द-चयन में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। पर जहाँ 'तम' के स्था 'तुमुल' (पन्त) और 'तमस्तूर्य' (निराला) जैसे प्रयोग होने लगे, वहाँ 'शब्दार्थ'-मर्या की अवश्य ही उपेक्षा हुई है। पर जहाँ इन कवियों ने संस्थित होकर अर्थ और संगीत व एकात्मक दर्शन किया है, वहाँ एक 'अप्रयुक्त' शब्द 'कामधुक्' बन गया है। 'बादल' कवि में 'कुमुद-कला' को 'दमयन्ती-सा' कहना कितना व्यंजक है! इसी प्रकार 'लालस' के सम में 'पन्त' जी का 'लालस' शब्द बड़ा ही उपयुक्त बन गया है। 'लालसा-भरे' के स्थान पर 'लालस' का प्रयोग अधिक कला-मय एवं काव्योपयुक्त है। संज्ञाओं के साथ विशेष दे देना इस युग की सामान्य प्रवृत्ति है, एक वाक्य की बात को एक शब्द में कस देने की कला भी। चकित पुकार, करुणार्द्र कथा, हिम अधर, आलोक-मधुर शोभा, शोभन रूप, मधुर मरोर, सजग पीर, अलसहास, तरल गान, दीवानी चोट, शिथिल समीर, कनक-प्रभात, स्वर्ण-विहान आदि युग्म इस युग के काव्य में परितः विकीर्ण मिलेंगे। कभी-कभी तो सारी बात विशेषणों में ही कह दी जाती है—

> प्रिय गया है लौट रात!
> सजल धवल अलस चरण
> मूक मदिर मधुर करुण
> चाँदनी है अश्रु-स्नात! महादेवी
>
> ... ...
>
> रात-सी नीरव व्यथा, तम-सी अगम मेरी कहानी।

'प्रसाद' और महादेवी के विशेषण अनुभूति-मय, 'निराला' के चिन्तनमय और 'पन्त' के वैचित्र्य-विरोध-प्रेरित होते हैं। नवीन कवियों में शम्भूनाथ की कविताओं में विशेषण अधिक नहीं प्रयुक्त होते, जो होते हैं वे अधिकांशतः क्रियाधारित होते हैं यथा 'बाहें वरदानी'। 'भारती' के विशेषण अधिकांशतः रंग-रूप पर आधृत होते हैं। विजयदेव नारायण साही के विशेषण वर्ण से अधिक सम्बन्धित हैं, क्योंकि उनमें चाक्षुष एवं श्राव्य तत्त्व प्रधान हैं। चाक्षुपता 'भारती' में भी प्रमुख है। शम्भूनाथ सिंह, 'विश्व' एवं गिरधर-गोपाल में चक्षु एवं श्रवण की अपेक्षा स्वाद, गंध एवं स्पर्श तत्त्वों की प्रधानता है। उनकी इन रुचियों का प्रभाव उनके विशेषण-प्रयोगों पर भी पड़ा है। मेरी समझ से विशेषणों का अधिक प्रयोग उन्हीं कवियों की भाषा में मिलेगा, जो दृश्य के प्रभाव-प्रतिक्रिया में भी अपना चिन्तन सजग रखते हैं। जो अनुभूतियों में जितने ही घुल जाते हैं, वे विशेषणों के स्थान पर संज्ञाओं और विशेषकर भाव-वाचक संज्ञाओं का उतना ही प्रयोग कर जाते हैं। 'ललाई' की चेतना हमें पहले होती है और 'वस्तु के लाल' होने की चेतना बाद को, क्योंकि रंग की चेतना के पश्चात् वस्तु की चेतना होती है और तब उस वस्तु को रंग के साथ सम्बद्ध कर हम उसे 'लाल' कहते हैं। यही क्रम कविता में अभिव्यक्ति पर भी

लागू होता है। अनुभूति एवं संवेग से आच्छन्न क्षणों में हम संज्ञाओं में सीधे कह जाना अधिक सहज पाते हैं। विशेषणों में अपनी बात कहने के लिए कुछ तटस्थ चिन्तन का अवकाश चाहिए। छायावादी कवियों से 'पन्त' जी अपेक्षाकृत अधिक बाह्यचेता हैं, अतः उनमे विशेषणों का बाहुल्य है। मीरा की पीड़ा एकदम वैयक्तिक और अन्तर्मुखी है, अतः उसमें विशेषणो का प्रयोग बहुत ही न्यून मिलेगा। महादेवी अपनी पीडा के अन्तर्लोक मे ही सीमित न रहकर बाह्य सृष्टि में भी उसका छोर ढूंढ़ती हैं, अतः उनमें मीरा से कही अधिक विशेषणो का प्रयोग है। यों भी उनकी अनुभूति चिन्तनपुष्ट होती है।

ये कवि जहाँ एक ओर भाषा के क्षेत्र मे संस्कृत की तत्समता का आलिंगन करते हैं, वहाँ दूसरी ओर ग्राम-बोलियों एवं स्थानीय प्रयोगों की ओर भी उतरे हैं। 'लुकना' (छिपना), मटकाना, आस पूजना, ओद (आर्द्र), हौले-हौले, मावस, रैन, चहुँओर, रार, हुलास, ढिग आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

तत्समता मे 'निराला' जी सबसे आगे हैं। संस्कृत के साथ-साथ अरबी-फ़ारसी के तत्सम-शब्दो को भी उन्होंने अपनाया है। 'राम की शक्ति-पूजा' और तुलसीदास में उनकी भाषा का क्लिष्टतम रूप सामने आता है। सुदीर्घ समस्त-पद साधारण पाठकों का छक्का छुड़ा देते हैं—

विच्छुरित वह्नि राजीव-नयन-हत-लक्षवाण,
लोहित-लोचन-रावण-मद-मोचन महीयान ।

'अस्तमित' के साथ 'शीतलच्छाय' विशेषण संस्कृत-श्लोक का टुकड़ा मालूम पड़ता है। 'निराला' जी की बाद की कविताओं में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का धड़ल्ले-से प्रयोग हुआ है, जो अधिकांशतः व्यंग्य-विद्रूप से प्रेरित हैं—

चूँकि यहाँ दाना है,
इसलिए दीन है दीवाना है।
लोग हैं, महफ़िल है,
नग़मे हैं, साज़ है, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है,
चूँकि यहाँ दाना है। (अणिमा)

छायावाद के 'द्वितीय चरण' से ही उर्दू का प्रयोग कुछ आने लगता है और 'निराला' जी ने ही प्रतिक्रिया में दूसरा छोर भी छू लिया। 'बच्चन' ने भाषा के क्षेत्र मे छायावादी काव्य को जनता के निकट लाने में एक ऐतिहासिक काम किया है। भगवती-चरण वर्मा ने भी भाषा-सारल्य और सुबोधता का ध्यान रखा है। जवानी, अरमान, ख़ामोशी, बेहोशी, हैरान, शैतान, दर्द, इन्सान, चिराग़, ज़मीन, आसमां, जहान, जबान, दिल, दिमाग जैसे नित्यप्रति के व्यवहार में आने वाले उर्दू के शब्दों को तो बच्चन' जी ने ही प्रचलन दे दिया था। 'तृतीय चरण' में आकर प्रतिक्रिया की वृत्ति स्वस्थ होने लगी है और अब संस्कृत के विरोध या नवीनता के लिए नहीं भावानुरोध और स्वाभाविकता के नाते बोलचाल के शब्दो का सुन्दर प्रयोग होने लगा है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी आने लगी हैं। श्री शम्भूनाथ सिंह ने भी अरमान, जवानी, निशानी, बेसुधी,

शमादान आदि के साथ कसमस, माथे पर, शाम, साँझ, गुजर जाना—आदि प्रयो
किए हैं। 'भारती' तो उर्दू के संज्ञा-विशेषणों के और उनसे हिन्दी के ढंग पर
शब्द गढ़ने में बड़े ही सफल शिल्पी हैं। फ़िरोज़ी ओंठ, शबनमी निगाहें, मासूम न
बच्चों की ज़िद, जैसे प्रयोग उनकी भाषा-शैली की विशेषता हैं। उर्दू की मीठी चाश
की मधुर पुट से भाषा में एक निराला बाँकपन, अछूती भंगिमा और क्वाँरी उक्तियों
हसीन मासूमियत लाने में 'भारती' आज के कवियों में अपना सानी नहीं रखते
विशेषतः जब उनका कुमार कवि किसी भोले, कच्ची किरनों से कोमल, और 'पान-फू
से मधुर बदन' वाले मासूम से अपनी कल्पना की रंगीन कुंजों में कुछ छेड़-छाड़ करने औ
आँख-मिचौनी खेलने लगता है, तो उनकी भाषा की चुहल देखने-लायक होती है। अपने
'होली की रात' कविता में 'प्रसाद'जी ने धुली हुई चाँदनी की स्निग्धता में तितली
पंखों के बिछलने की अनुभूति की थी—

चाँदनी धुली हुई है आज
बिछलते हैं तितली के पंख।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज,
मधुर उठती है तान असंख ।। (झरना)

'कविता की शाहज़ादी' को जो 'अपार्थिव कल्पनाओं, टेढ़े-मेढ़े शब्दजालों, अस्पष्ट रूपकों और उलझे हुए जीवन-दर्शन की शिलाओं से बँधी उदास जल-परी की तरह 'क़ैद' थी, छुड़ाने के लिए 'आदम के सन्तानों के बीच से उठी' 'भारती' की वाणी गा उठती है—

इन फ़ीरोज़ी ओंठों पर बरबाद मेरी ज़िन्दगी !
गुलाबी पाँखुरी पर एक हलकी सुरमई आभा
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर !
इन फ़ीरोज़ी ओंठों पर।

ग्राम-बोलियों का 'र' प्रायः खड़ीबोली में 'ल' बन गया है, यथा-थार (थाल), सुनहरी (सुनहली), रुपहरी (रुपहली) आदि। इधर फिर ग्राम-बोलियों की सहज लय में फिर 'सुनहली' और दोपहरी' की जगह 'सुनहरी' और 'दुपहरी' का प्रयोग निखर आने लगा है—

ज्योति दिन की खो गई है,
रात दिन भर रो गई है,
नील नभ के श्वेत गिरि के शीश पर रेखा सुनहरी !
धूप सावन की दुपहरी !!

भावों की पुरवाई में मुरझाती 'भारती' की भावुकता-सनी भाषा की खुमारी भी कितनी ताजी है—

लहरा रहा है मुझ पर किस ज़िन्दगी का आँचल,
जो उड़ रहे दृगों में छवि के हजार बादल !
कुछ इस तरह हुआ हो कि फिर न मिटे खुमारी !
अपना करूँ जहाँ तक बजती रहे ये पायल ।।'

तनिक हिन्दी के नये गजल-नवीस नर्मदेश्वर उपाध्याय का शिकवा भी सुनिए—

सूने घर में दिया जलाकर तुमने बुरा किया ।

भाषा की दृष्टि से अगर छायावादी काव्य-शैली पर विचार करें तो वह तीन प्रमुख रूपों में सामने प्रस्तुत होती है—(१) अप्रस्तुत-प्रधान एवं व्यंजनात्मक (२) परिसाधित एवं विलम्बित (३) सरल-सहज व्यंजनात्मक। अप्रस्तुत-प्रधान शैली में प्रतीकात्मक प्रयोग, लाक्षणिक वक्रता, चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता आदि का पूर्ण उपयोग होता है। 'प्रसाद'जी ने अपने निबन्ध 'यथार्थवाद और छायावाद' में जिसे 'अभिव्यक्ति की भंगिमा' कहते हुए 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता' सौन्दर्य-मय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता' में अन्तर्भूत किया है, वह अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समपर्ण करने वाली कान्तिमयी अभिव्यक्ति 'छाया' है। छायावाद की इसी विशिष्टता के कारण इसे छाया की भांति अस्पष्ट और टेढ़े नाक पकड़ने की पद्धति कहकर अवमानित किया गया। सच्ची बात तो यह है कि जीवन की आन्तरिकता और अनुभूतियों की गूढ़ मार्मिकता को उसके अभिराम अवगुण्ठन में ही झलकाने की प्रवृत्ति समस्त छायावादी कवियों की सामान्य विशेषता है। इसी के परिणामस्वरूप नवीन और मौलिक अप्रस्तुओं का सुन्दर सचयन हुआ और भाषा में एक विचित्र तड़प के साथ-साथ सूक्ष्मानुभूतियोंको अभिव्यजित करने के ललित मार्ग का द्वार उन्मुक्त हो गया। कालानुक्रम से प्राप्त प्रतीकों का विधान किया गया। रूप-साम्य और गुण-साम्य के आगे प्रभाव-साम्य को प्राधान्य मिला। इन कवियों की दृष्टि में ऐसे स्थलों पर वस्तु-विधान प्रधान न होकर उसकी मानसिक प्रतिक्रिया ही प्रधान होती है, इसी से वस्तु के रूपाकार और गुण की चेतना न जगाकर उन्होंने उनके द्वारा जगायी गयी अनुभूति के पुनरायन को ही अपना लक्ष्य बनाया। इसके लिए 'प्रसाद' के शब्दों में, कुन्तक के 'अतिक्रान्त-प्रसिद्ध-व्यवहार-सरणि' के अवलम्बन से उन्हें झिझक न हुई। 'प्रसाद' की 'कामायनी' में श्रद्धारूप-वर्णन के स्थल पर नवीन और प्रभाव-साम्य-मूलक अप्रस्तुतों की छटा कितनी मनोमोहक है—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त !
मधु-पवन-क्रीडित ज्यों शिशु साल,
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।

... ...

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद ।
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद ।

जहाँ अप्रस्तुत पूर्व-परिचित एवं परंपरागत भी हैं, वहाँ इन कवियों ने विशेषण-वक्रता एवं अभिनव शब्द-सान्निध्य के द्वारा उसे नवीन अनुभूतियों से उज्ज्वल बना दिया है। 'मनु' ने श्रद्धा को देखकर पूछा—

कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार।
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा-किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कान्त-
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस-हलचल शान्त।

यहाँ वसन्त, चपला, नखत आदि परपरागत उपमान ही हैं, पर 'दूत', 'रेख', 'आशा-किरण' आदि शब्दों के साहचर्य द्वारा उनके बासीपन को दूर कर उनके प्रभाव में एक ताजगी ला दी गयी है। इन कवियों ने विशेषणों एवं अन्य संज्ञा-शब्दों के द्वारा पुराने अप्रस्तुतों के चारो ओर एक नवीन व्यंजना का परिवेश खड़ा कर दिया है। उषा और प्रात के अप्रस्तुत चाहे उतने नवीन न हों, पर 'व्यथा के तिमिर-वन' और 'कुसुम-विकसित' जैसे पद-प्रयोगों से अनुभूति का एक नव्य वातावरण उपस्थित हो जाता है—

चिर-विषाद-विलीन मन की, इस व्यथा के तिमिर वन की
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा, कुसुम-विकसित प्रात रे मन! (कामायनी)

महादेवीजी के इस विराट् चित्र में 'अप्रस्तुतों' का चयन-कौशल देखिए—

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता—(रश्मि)

'सूक्ष्म' के लिए 'स्थूल' और 'स्थूल' के लिए 'सूक्ष्म' अप्रस्तुतों का विधान, 'धर्म' के लिए 'धर्मी' और 'धर्मी' के लिए 'धर्म', 'अंग' के लिए 'अंगी' और 'अंगी' के लिए 'अंग', 'आधेय' के लिए 'आधार' और 'आधार' के लिए 'आधेय' आदि के लाक्षणिक प्रयोग इसी प्रवृत्ति के अंतर्गत समाविष्ट है। रहस्यवादी-काव्यधारा में यह सांकेतिकता बहुत बढ़ जाती है और मात्र प्रतीक ही सामने होते हैं, जो रूपकातिशयोक्ति के रूप में पुरानी परिपाटी के लोगों को घबरा देते हैं—

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से।—(आँसू)

परिसाधित एवं विलम्बित शैली में एक ही भाव-विचार को कई-कई पंक्तियों में शृंखलावत् फैलाते चलते हैं और जहाँ एक भाव-विचार समाप्त हुआ, जंजीर की कड़ी की भाँति दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। 'प्रसाद' के 'लहर'-संग्रह की अन्तिम प्रबन्ध-कविताएँ, 'निराला' के मुक्त-वृत्त, 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-पूजा', 'सरोज-स्मृति' आदि कविताएँ, 'पन्त' की 'परिवर्तन' और 'स्वर्ण-धूलि' तथा 'स्वर्ण-किरण' की लम्बी नवीन रहस्यवादी रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। 'कामायनी' में मनोभावों के विवृत वर्णनों में 'प्रसाद' ने भी इसका उपयोग किया है। सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता' और 'किसान'-जैसी कविताएँ

भी इसी कोटि में आएँगी। यह शैली अत्यन्त सुकोमल और सजग रीति से सजी पदावलियों से जटित और अलंकृत होती है। छायावादी कविताओं का भाषावैभव इन्हीं पद-वल्लियों में देखा जाता है। ऐसे स्थलों पर विशेषणयुग्मों की छटा दर्शनीय होती है। भाषा अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत-प्रधान, समास-युक्त, सुदीर्घ पदावलियों वाली हो जाती है। इस शैली में 'निराला' की दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं। एक तो 'जागो फिर एक बार', 'जुही की कली' और 'शेफाली'-जैसी रचनाएँ हैं, जिनमें मधुर एवं कोमल-कान्त पदावलियों की स्निग्ध-मसृण पद-शय्या बड़ी ही मोहक होती है। नाद एवं संगीत की अपूर्व छटा दिखायी पड़ती है। दूसरे प्रकार की वे क्लिष्ट, अति तत्सम-प्रधान एवं संयुक्ताक्षर-बहुल रचनाएँ हैं जो 'कौन तम के पार रे कह' और 'राम की शक्ति-पूजा' में जाकर अपनी चूड़ा का स्पर्श करने लगी हैं—

> आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्त कर वेग प्रखर,
> शत-शेल-सम्वरणशील, नील-नभ-गर्जित-स्वर
> प्रतिपल परिवर्तित-व्यूह-भेद-कौशल-समूह—
> राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध कपि विषम हूह।
>
> ... ...
>
> कौन तम के पार (रे कह)
> अखिल-पल के स्रोत, जल जग
> गगन घन-घन-धार (रे कह)
> गंध-व्याकुल कूल उर-सर,
> लहर-कच कर कमल-मुख पर,
> हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर सर
> गूँज बारंबार! (रे कह)

सरल-सहज शैली अत्यन्त सरल एवं अभिधा-प्रधान होती है। इसमें न तो भाषा-वैभव का मोह होता है और न तत्समता की प्रतिक्रिया। इसमें बोलचाल के प्रभावक अर्थ-परिवेश वाले उर्दू के शब्द भी ग्रहण किये जाते हैं। लोकोक्ति और मुहावरे का भी चुटीला प्रयोग होता है। छायावाद के परवर्ती कवियों ने ऐसी भाषा को अपनाया है। यह भाषा जनता के अधिक निकट होती है। 'बच्चन' और 'नेपाली' इस शैली के लोकप्रिय कवि हैं। 'नये पत्ते' और 'बेला' में आकर 'निराला' ने भी इसी को अपनाया। उनकी बाद की कविताओं में यही शैली प्रौढ़ रूप में प्रयुक्त हुई। 'बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु, पूछेगा सारा गाँव बन्धु'—जैसी रचनाएँ अपनी सादगी के लिए भी अधिक प्रभाव-पूर्ण और चुटीली बन गयी हैं। जहाँ-जहाँ 'निराला' ने व्यंग्य का सहारा लिया है, इसी शैली की श्री बिखरी हुई है।

छायावादी युग की भाषा साधारणतः जन-भाषा से दूर एक शिष्ट-साहित्यिक भाषा रही है। उसके कवियों में जन-मोहन-कला की अपेक्षा कलाकार की चेतना अधिक प्रबुद्ध है। वे पाठकों के पास उतरने के स्थान पर पाठकों से ही अपने पास आने की आशा करते हैं। इसी से छायायुग की भाषा-भंगिमा और अभिव्यक्ति-साधना का वास्तविक रस सब

नहीं ले पाते; उसके लिए संस्कार, सुरुचि एवं कला-चेतना जिस पाठक में जितनी ही अधिक जागरूक होगी, वह उतना ही प्रसन्न हो सकेगा। संस्कृत-पदावलियों के पुनरुद्धार के कारण पाठकों का संस्कृत के तत्सम शब्दों का भण्डार भी विकसित और सम्पन्न होना चाहिए। यही नहीं, जो अंग्रेजी भाषा और उसकी अभिव्यंजनाओं (लाक्षणिकता) से विशेष परिचित नहीं हैं, उन्हें भी कितने ही स्थलों पर मर्म-ग्रहण में कठिनाई होगी। अंग्रेजी के कितने ही मुहावरे, पद, उक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ अविकल रूप में अनूदित कर दी गयी हैं—स्वर्ण-विहान, स्वर्ण-युग, जीवन का नवीन अध्याय, जीवन के कंचन-पृष्ठ रजत-रात, स्वप्निल मुसकान, स्वर्ण-केश, जीवन-प्रभात, जीवन-सन्ध्या, मेरे प्यार, ओ सौन्दर्य, प्रकाश डालना, जीवन में चौदह वसन्त आदि प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इसी प्रकार 'पीड़ा-रूपी आग' कहकर 'पीड़ा की आग' कहने की 'व्यस्त-रूपक' शैली भी अंग्रेजी से प्रेरित है। हिन्दी के इस युग में आयी लाक्षणिकता ने अंग्रेजी भाषा की इस विशिष्ट प्रवृत्ति से पर्याप्त बल लिया है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति के उपकरणों अथवा निष्प्राण पदार्थों और सूक्ष्म भावों को चेतन-रूप प्रदान कर देने वाली 'मानवीकरण' अलंकार की पद्धति, 'धर्म' या 'अंग' पर लगे विशेषणों को 'धर्मी' या 'अंगी' पर लगाकर अर्थ देने वाली 'विशेषण-विपर्यय' अलंकार की शैली और नाद-विशेषण की सृष्टि करने वाली विशिष्ट पदावली के प्रयोग से ही अर्थ की व्यंजना करने वाली 'नादार्थ-व्यंजना' अलंकार की अभिव्यक्ति-रीति, अंग्रेजी के 'पर्सनीफिकेशन','ट्रान्सफर्ड एपीथेट' एवं 'ओनोमैटोपीया' से ही प्रेरित हुई हैं।

छायावादी काव्य-धारा की भाषा में लिंग-वचन-लोकोक्ति-सम्बन्धी उच्छृंखलताएँ, नवीनता के मोह में असिद्ध शब्दों की रचना, क्लिष्टता, अपुष्टत्व एवं दूरान्वय-विषयक दोष भी आ गए हैं। 'निराला' और पन्त तक में विभक्तियों तक के दोष दिखलाई पड़ जाते हैं, पर इन सबके बावजूद भी छायावाद हिन्दी खड़ीबोली के विकास-इतिहास का एक गौरव मय अध्याय है जिसमें खड़ीबोली की कुमारिका को यौवन की प्रौढ़ता और जीवन की विविधता के उपयुक्त हाव-भाव की सूक्ष्म सांकेतिकता प्राप्त करने का स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ। उसके हृदय (भावाभिव्यक्ति) और बुद्धि (चिन्तनशीलता) दोनों का अभूतपूर्व विकास हुआ। आन्तरिक अनुभूतियों के निरूपण, सूक्ष्म सौन्दर्य-दर्शनों की मर्माभिव्यक्ति और जीवन के अन्तराल में चलने वाले गम्भीर घात-प्रतिघात के चित्रण की जो शक्ति इस धारा से प्राप्त हुई, वह पूर्व-युगों में अप्राप्य थी। 'प्रसाद' की सूक्ष्म सांकेतिक भंगिमा, 'निराला' की अभिधेयात्मक परिभाषना, 'पन्त' का लाक्षणिक वैचित्र्य, महादेवी की प्रतीकात्मक चित्रकता,'बच्चन' की सीधी-सीधी एवं तल-स्पर्शी काव्यार्चना, नरेन्द्र शर्मा की ऐन्द्रियता, नेपाली की सहज रमणीयता, शम्भूनाथ सिंह की परिस्थितियों पर आधृत संवेदनशीलता और 'भारती' की कल्पना की सूक्ष्म एवं मार्मिक उपलब्धियाँ किसी भी युग की भाषा के लिए अभिव्यंजना-शक्ति का जीवन्त उदाहरण होंगी।

सर्वेक्षण

विजय बहादुर अवस्थी

सन् १९२० ई० के आसपास हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक नयी काव्य-धारा का सूत्रपात हुआ जिसे 'छायावाद' की संज्ञा प्रदान की गयी। आरम्भ में मुकुटधर पांडेय को छायावाद का प्रवर्तक माना जाता था किन्तु कालान्तर में जयशंकर प्रसाद को उनकी 'इन्दु' में प्रकाशित उन कविताओं के आधार पर जो बाद में 'कानन-कुसुम' में संगृहीत हुईं, छायावाद का प्रवर्तक माना जाने लगा। प्रारम्भिक काल में इस काव्य-धारा को अस्पष्टता के कारण 'छाया' नाम दिया गया किन्तु आगे चलकर यह नाम इतना अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय हुआ कि स्वय छायावाद के महारथियों ने इसका हृदय से स्वागत किया और उन्होंने अपने-अपने ढंग से इसे अर्थवत्ता प्रदान की।

परिभाषा—आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'छायावाद' एक अत्यन्त विवादास्पद 'वाद' है। समीक्षकों ने इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'छायावाद' को दो अर्थों मे ग्रहण किया :—१. रहस्यवाद, २. काव्य-शैली या पद्धति-विशेष। वे महादेवी वर्मा को प्रथम अर्थ में तथा प्रसाद, पन्त और निराला को द्वितीय अर्थ मे छायावादी मानते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार छायावाद "नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम और स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना का प्रतिफलन है। मानव तथा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भान 'छायावाद' है। इसमें भावुकता, साकेतिकता, रहस्य, दुरूहता, कोमलकांत-पदावली, प्रकृति-प्रेम, उच्छृंखलता—अनेक वस्तुएँ सम्मिलित हैं।" डॉ० नगेन्द्र 'छायावाद' को एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति मानते हैं। उनके अनुसार "जीवन के प्रति इस विशेष भावात्मक दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुंठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति हुई है प्राय. प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्त्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है।" उनके अनुसार 'अन्तर्मुखी प्रवृत्ति' अशरीरी प्रेम एवं उसकी अतृप्ति, अमांसल सौन्दर्य, मानव एवं प्रकृति का चेतन संस्पर्श, रहस्य-चिन्तन, कलात्मकता एव वायवी वातावरण' छायावाद की विशेषताएं हैं। प्रसाद की मान्यता है, "कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य-वर्णन से भिन्न, जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी मे उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया।" महादेवी का मत है कि "छायावाद इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भाव

मामों का विद्रोह है। छायावाद एक विशिष्ट सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति है जिसने अपनी सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए नूतन अभिव्यंजना-प्रणाली का कोमलतम कलेवर अपनाया।" पन्त का कथन है कि "नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने के पहले हिन्दी-कविता छायावाद के रूप में ह्रास-युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियां, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर पलायनवाद के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर भीतर-बाहर, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वंद्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी।" डॉ० रामकुमार वर्मा छायावाद और रहस्यवाद में अभेद स्थापित करते हुए लिखते हैं—"छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है।······संसार में परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ रहा है उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण में समाई हुई है। इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को 'छायावाद' की संज्ञा दी गयी।" 'दिनकर' के अनुसार, "वास्तव में छायावाद की विशेषता ध्वनि और वेदना-प्रियता नहीं, प्रत्युत भावुकता और कल्पना की अतिशयता तथा परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण करने का मोह था।······सामने के आवरण को हटाकर उसके पीछे छिपे हुए सत्यों को जानने की उत्सुकता और कल्पना के सहारे भाँति-भाँति की सुन्दरताओं को देखने की चाह, ये दो बातें हिन्दी के छायावादी आन्दोलन की दो प्रमुख विशिष्टताएँ थीं।······छायावाद के दो अन्य लक्षण भी उल्लेखनीय हैं—एक तो अतीत की ओर आसक्ति से देखने की प्रवृत्ति और दूसरा जीवन के सरल रूप पर लौट चलने का भाव।"

उपर्युक्त विचारों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि छायावाद न तो अभिव्यंजना की विशिष्ट शैली मात्र है और न केवल रहस्यवाद। वह खड़ीबोली कविता का वह प्रकारविशेष है जिसमें अभिव्यंजना का चमत्कार, रहस्यभावना, अंतर्मुखी वृत्ति, आत्मनिष्ठता, स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, पलायनवाद, प्रकृति में चेतन का आरोप, नवीन जीवन-दर्शन, अशरीरी प्रेम, सूक्ष्म सौन्दर्य, निगूढ़ वेदना आदि अनेक विशेषताएँ समाविष्ट हैं।

प्रेरक परिस्थितियाँ—छायावाद के उद्‌भव के विषय में मतभेद है, कुछ समीक्षकों का मत है कि छायावाद का उद्‌गम द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ; कुछ इसे अंग्रेजी रोमान्टिक कविता की देन समझते हैं, कुछ बंगला के प्रभाव से उद्‌भूत मानने के पक्षपाती हैं और किसी-किसी ने इसे वैदिक काल से चली आती हुई एक स्वतन्त्र काव्य-धारा के रूप में देखा है। वस्तुतः ये सब संश्लिष्ट रूप से छायावाद के प्रेरक तत्त्व हैं।

राजनीतिक परिस्थिति—स्वातन्त्र्य-संग्राम के फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी-कविता देश-प्रेम की ओर मुड़ी, अतः कवि-हृदय तत्कालीन शासन के प्रति विद्रोहात्मक हो उठा; किन्तु विदेशी शासन का इतना अधिक आतंक था कि कवि खुलकर विदेशी सत्ता का विरोध न कर सका। परिणाम यह हुआ कि वह अंतर्मुख हो गया और उसकी भाव-धारा

आत्माभिव्यक्ति प्रधान होकर छायावाद के रूप में फूट पड़ी।

साहित्यिक परिस्थिति—द्विवेदीयुगीन कविता वस्तुनिष्ठ अथवा बाह्यार्थनिरूपक थी। उसकी इतिवृत्तात्मकता अथवा वर्णनात्मकता ने काव्य में रूक्षेपन का विस्तार किया जिसमें सुकुमारता का क्रमशः अभाव होने लगा। उसमें वर्णन-विविधता का ही बाहुल्य रहा, हृदय के कोमल भावों का सन्निवेश न हो सका। उन कविताओं में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता न थी, जिनमें रसात्मकता का अभाव-सा था। इस रूक्षेपन के प्रति कवि का संवेदनशील हृदय विद्रोहात्मक हो उठा। दूसरों का वर्णन करते-करते वह ऊब चुका था। अतः उसने आत्माभिव्यक्ति के लिए उन विषयों को चुना जो अपेक्षाकृत नवीन थे, जिनमें आत्माभिव्यंजना के लिए मुक्त अवकाश था। शैली में भी नवीनता का समावेश हुआ, मुक्त छन्दों की निबन्धना हुई, भाषा में लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग बढ़ने लगा।

धार्मिक-सामाजिक परिस्थिति—सुधारवादी आर्यसमाज आदि धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं के फल-स्वरूप द्विवेदी-युग के साहित्यकारों के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर नैतिकता का प्रतिबन्ध-सा लग गया। साहित्य से शृंगारिकता को दूर रखने का भरसक प्रयत्न किया जाने लगा। अतः उस युग का काव्य नीरसता एवं वर्जना से भर गया। नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण स्वाभाविक होते हुए भी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का विषय न बन सका। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने नैतिकता की आरोपित शृंखला को तोड़कर आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से शृंगारिक भावना की विवृति की। छायावादी कविता में नारी-सौन्दर्य-वर्णन का यह एक प्रमुख कारण है।

आर्थिक परिस्थिति—आर्थिक दृष्टि से भी कवि कुंठाग्रस्त था। समाज में शासक वर्ग तथा उसके लगू-भग्गुओं का ही विशेष सम्मान था। सामान्य जन (जिसमें कवि भी सम्मिलित था) सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपेक्षित ही था। इसकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप समाज के प्रति उदासीन कवि ने अतमुँख होकर आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य का प्रमुख विषय बनाया जिसमें वह प्रतिष्ठा के कल्पित आनन्द की अनुभूति करने लगा।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इन प्रवृत्तियों के मुख्यतः दो वर्ग हैं : भावगत, और शैलीगत।

भावगत प्रवृत्तियाँ

आत्मनिष्ठता एवं वैयक्तिकता—द्विवेदीयुगीन कविताएँ प्रायः विषयनिष्ठ थीं। इसकी प्रतिक्रिया हुई। छायावादी कवियों ने अन्तर्जगत् को महत्त्व दिया। उनकी आत्माभिव्यक्ति कभी-कभी इतनी अधिक उद्दाम हो उठी कि आलोचकों ने उसे 'उद्दाम वैयक्तिकता का अभिव्यंजन' तक कह डाला। प्रारम्भिक छायावादी कविताओं में सामाजिकता का अभाव तथा आत्माभिव्यक्ति का ही प्राचुर्य रहा। 'जुही की कली' (निराला), उच्छ्वास (पन्त), 'आँसू' (प्रसाद) आदि इस प्रकार की रचनाओं के प्रकृत उदाहरण हैं। छायावादी कवियों की इस आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा में उनकी आत्म-विस्तार की आकांक्षा

निहित है। इस आकांक्षा के फलस्वरूप उन्होंने रहस्यवादी आवरण में असीम, अज्ञात तथा विराट् प्रियतम के दर्शन किए।

अहंभावना की अतिशयता—छायावादी कवियों की अंतर्मुखी प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप उनमें अहंभावना का उदय हुआ। इसके अंतर्गत उन्हें अपनी वैयक्तिक अभिरुचि प्रदर्शित करने का अवसर मिला और उन्होंने निराली 'मैं शैली' अपनायी। उनका अहं संकुचित न होकर अत्यन्त विस्तृत एवं उदात्त है। उनकी व्यक्तिगत चेतनाएँ मार्मिकता एवं तलस्पर्शी गम्भीरता से ओतप्रोत होने के कारण सहृदय-संवेद्य हैं।

प्रकृति का मानवीकरण—छायावादी कवियों की एक अवेक्षणीय विशेषता है प्रकृति पर चेतना का आरोप। उन्होंने मानव के ही समान प्रकृति में भी चेतना का अनुभव किया; मानव को प्रकृति के सपर्क में लाकर उसकी स्वाभाविकता और निश्छलता का परिचय कराया; प्रकृति के मूक चित्रों में मानवोचित हृदय की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति को मौनता से मुखरता तथा जड़ता से गतिशीलता की ओर प्रेरित किया। उदाहरण के लिए, पन्त ने अपनी 'नौका-विहार' कविता में गंगा का चित्रण एक तापस-बाला के रूप में किया —

> शांत, स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
> अपलक अनन्त, नीरव भूतल !
> सैकत-शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
> लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल !
> तापस-बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल
> लहरें उर पर कोमल कुन्तल !

सर्वात्मवादी भावना—छायावादी कवि के अनुसार प्रकृति आत्मा की ही छाया है; द्रष्टा और दृश्य सभी उस विराट् सत्ता के ही विभिन्न रूप हैं :

> नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
> एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन !

छायावादी रचनाएँ अध्यात्ममूलक हैं। उनमें एक परोक्ष सत्ता का आभास मिलता है। पन्त और महादेवी की कृतियों में इस परोक्ष सत्ता की अनुभूति ही काव्य की प्रक्रिया है जो प्राकृतिक सुषमा के विविध रूपों में व्यक्त हुई है। प्रसाद और निराला में इसकी परिणति दार्शनिक भूमि पर हुई है। प्रसाद के आनन्दवाद एवं समरसतावाद में मानवतावाद मुख-रित है, जबकि निराला में अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा प्रमुख है। छायावादी रचनाओं में मानवतावादी आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई है, इनमें मानवता के श्रेय पक्ष का स्वरूप निहित है। 'कामायनी' की

> औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।
> अपने सुख को विस्तृत कर लो, सब को सुखी बनाओ।

आदि पंक्तियों में यही मानवतावाद मुखरित हुआ है।

शृंगारिकता तथा प्रेम-व्यापकता—शृंगार एवं प्रेमप्रधान वर्णन तथा सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति छायावाद की एक अन्य विशेषता है। इसीलिए सामान्यतः छाया-

वाद को प्रेम और सौन्दर्य का काव्य कहा जाता है। इस काव्य में प्रेम-भावना का आवेग विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रेम की यह व्यंजना लौकिक होते हुए भी अतीन्द्रियता के उस धरातल पर जा टिकती है जिसे हम आध्यात्मिक अथवा रहस्यात्मक दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। यह प्रेम-वर्णन संयत, उदात्त एवं रहस्योन्मुख ही कहा जाएगा। अमर्यादित शृंगार की व्यंजना यत्र-तत्र अपवादस्वरूप ही हुई है। इन कवियों का प्रेम-वर्णन विविधता से पूर्ण है; उसमें मिलन, विरह, स्मृति, उत्कंठा, तीव्रता आदि अनेक मनोदशाओं का चित्रण हुआ है। उसमें नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय मिलता है जो रीतिकालीन कवियों के नख-शिख-वर्णन से भिन्न है। रीतिकालीन कवियों ने नारी को प्रेयसी या नायिका के रूप में ही देखा, छायावादी कवियों ने उसे विभिन्न रूप में देखा तथा उसे स्वतंत्रता प्रदान की। उन्होंने अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति द्वारा नारी का एक स्वतंत्र एवं भव्य रूप अंकित किया। इस दृष्टि से पंत की 'अप्सरा' अवेक्षणीय है। छायावादी कवियों ने प्रेम को अत्यन्त महिमामय रूप प्रदान किया। उन्होंने प्रेम के विश्व-व्यापी प्रभाव का अनुभव किया। पंत ने इसी प्रेम (स्नेह) का गुणगान करते हुए लिखा—

> अनिल सा लोक-लोक में
> हर्ष में और शोक में
> कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सा सबके उर में !

महादेवी के गीतों में 'प्रेम की पीर' अत्यन्त मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त हुई है। प्रसाद ने 'कामायनी' की रचना द्वारा प्रेम की मूल प्रवृत्ति काम और रति को व्यापकता प्रदान की है। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक जागरण की व्यापक सामाजिक चेतना को प्रतिबिंबित और प्रभावित किया है। निराला ने 'प्रेम के प्रति' तथा 'प्रगल्भ प्रेम' शीर्षक कविताओं में प्रेम की प्रशस्ति की है; जैसे—

> प्रेम, सदा ही तुम असूत्र हो
> उर-उर के हीरों के हार;
> गूँथे हुए प्राणियों को भी
> गूँथे न कभी, सदा हो सार।

छायावादी कवियों का यह प्रेम उदात्त भूमि पर पहुँच कर मानवतावादी का प्रतिरूप हो गया है। निराला की 'सत्य के प्रति' शीर्षक कविता में प्रेम के इसी उदात्त रूप की व्यंजना हुई है। सौन्दर्य-भावना की दृष्टि से छायावादी रचनाओं का रूप-विन्यास यूरोपीय सौन्दर्य-बोध तथा भारतीय सौन्दर्य-भावना का समन्वित रूप है। इस सौन्दर्य-भावना की प्रमुख विशेषता है स्वाभाविक सौन्दर्य की अधिक से अधिक रक्षा तथा उसकी स्वाभाविकता का ध्यान रखते हुए अतिरिक्त प्रसाधन का आरोप।

विरह-वेदना—संयोग की अपेक्षा विप्रलंभ अधिक मार्मिक होता है। सभी युगों के कवियों ने उसकी तीव्रानुभूति पर ध्यान दिया है। अतः छायावादी रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में विरह-वर्णन हुआ है। महादेवी के अधिकांश गीत विरह-प्रधान हैं। पंत की 'ग्रन्थि' में 'वसन्ती वेदना' का हृदयस्पर्शी चित्रण है। प्रसाद का 'आँसू' एक महत्त्वपूर्ण विप्रलम्भ-काव्य है। छायावादी कवियों की यह विरह-वेदना युगीनपरिस्थितिजन्य

पीड़ा से ओतप्रोत है। ऐसा प्रतीत होता है कि छायावादी कवि का व्यथा एवं पीड़ा प्रति विशेष आकर्षण है तभी तो प्राय: संपूर्ण छायावादी साहित्य एक मधुर अवसाद वातावरण से व्याप्त है। पंत की तो मान्यता ही है कि काव्य की उत्पत्ति 'आह' हुई है—

> वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान;
> उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान!

उन्हें सम्पूर्ण ब्रह्मांड वेदनामय दिखायी देता है—

> वेदना ! कैसा करुण उद्गार है
> वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह
> तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में
> तारकों में व्योम में है वेदना।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन कवियों की इस वेदना का कारण लौकिक एवं पारलौकिक दोनों है और यह वेदना स्वानुभूतिजन्य तथा माधुर्य-विशिष्ट है; जैसे—

> अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,
> प्राणों का दीप जला कर करती रहती दीवाली।—महादेवी

छायावादी कवियों की यह वेदना उनके व्यक्तिगत जीवन तथा दृष्टिकोण का परिणाम है। अपने लौकिक रूप में यह वेदना दुःखवाद, करुणा, निराशा आदि का परिधान पहन कर आयी। लोकसत्तात्मक भावनाओं के प्रसार के साथ ही साथ व्यक्ति के मानस में निहित असंतोष, अतृप्ति, उत्पीड़न आदि भाव मुखरित हो उठे। दासता की असहाय अवस्था तथा कल्पना-प्रवणता ने इन्हें तीव्रता एवं प्रगाढ़ता प्रदान की। व्यक्तिगत परिस्थितियों से उत्पन्न क्षोभ, कुंठा आदि के फलस्वरूप कवियों ने संसार की नश्वरता, मनुष्य की असमर्थता और नियतिवाद का बहुधा आख्यान किया।

विस्मय, एवं रहस्यानुभूति—छायावादी कविताओं में विस्मय, कुतूहल और रहस्यमयी जिज्ञासा का स्वर भी प्राय: पाया जाता है—

> १. किन जन्मों की चिर-सचित सुधि बजा सुप्त तन्त्री के तार,
> नयन-नलिन में बँधी मधुप-सा करती मर्म-मधुर गुंजार ?—पंत
> २. किरण क्यों तुम बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग—प्रसाद

विस्मय और कुतूहल की भावना में सूक्ष्म आध्यात्मिक (रहस्यात्मक) संकेत भी भरे पड़े हैं—

> १. जान मुझको अबोध अनजान फूँक देते छिद्रों में गान,
> अहे सुख-दुख के सहचर मौन ! नहीं कह सकती तुम हो कौन।—पंत
> २. तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ? इसमें क्या है धरा, सुनो।
> मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—मेरे क्षितिज ! उदार बनो।—प्रसाद

विस्मय-जिज्ञासा-पूर्ण रचनाओं के अन्य उत्कृष्ट उदाहरण हैं निराला की 'कब', 'स्वप्नों-सी उन किन आँखों की', आदि; पंत की 'छाया', 'जिज्ञासा,' 'प्रथम रश्मि', 'मौन निमन्त्रण' आदि; महादेवी की 'कौन तुम मेरे हृदय में,' 'मुसकाता संकेत भरा नभ,'

'कमल दल पर किरण अंकित चित्र हूँ मैं क्या चितेरे' आदि कविताएँ।

पलायनवादी भावना—छायावादी कविताओं में पलायनवादी भावना की भी अभिव्यक्ति हुई है। यह पलायनवादी भावना दृश्य जगत् की कठोर वास्तविकताओं को सहन करने की असमता का ही परिणाम है। इसके फलस्वरूप छायावादी कवि किसी ऐसे अज्ञात लोक की कल्पना करता है जहाँ उसकी कल्पना के अनुकूल मनोरम दृश्यों के दर्शन होते हैं; जहाँ न तो विरह-वेदना है और न किसी अन्य प्रकार का विषाद ही—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।

नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण—ऊपर कहा जा चुका है कि छायावादी कविताओं में प्रेम का उदात्त रूप चित्रित हुआ है। छायावादी कवि ने नारी को विविध रूपों में देखा है। रीतिकालीन कवियों ने उसे पुरुष की वासना-तृप्ति का माध्यम बनाया और द्विवेदीयुगीन कवियों ने उसे केवल देवी-रूप में देखा तथा उसे उपदेशों की माला पहनायी, किन्तु छायावादी कवि ने उसे पुरुष के जीवन-पथ की सहचरी तथा उसके मन की आशा और कार्य के संबल के रूप में चित्रित किया। इतना ही नहीं, छायावादी रचनाओं में हमें नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व के भी दर्शन होते हैं। छायावादी कवि ने उसे प्रेम और सौन्दर्य के चेतन रूप में भी देखा तथा प्राकृतिक चेतना के स्वरूपों में उसके गुणों की प्रशस्ति की। उसने नारी की सामाजिक उपयोगिता को स्वीकार कर उसके प्रति परम्परागत निषेध-भाव को अस्वाभाविक मानते हुए उसका परित्याग किया। अब नारी माया के स्थान में प्रेरणा-दायक जीवन-संगिनी एवं सहयोगिनी के रूप में हमारे संमुख उपस्थित हुई। उसके शक्ति-रूप को भी सभी ने स्वीकार किया। प्रसाद ने नारी को श्रद्धा के प्रतीक के रूप में अंकित किया—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।—कामायनी

इस प्रकार छायावाद ने नारी के खोये हुए जीवन-मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की। उसने नारी के शरीर से अधिक उसकी उस आन्तरिक चेतना का मूल्यांकन किया जो प्रेम और सौन्दर्य के चेतन-स्वप्नों से मानव को प्रेरणा प्रदान करती हुई उसे गतिशील बनाती है। उसने स्त्री के भीतर प्रकृति की उदारता का आरोप कर एक आदर्श की उपस्थापना की। छायावादी कवि की नारी केवल काम-पुत्तलिका नहीं, वरन् वह प्राणों में शतधा सजीवनी शक्ति फूँकने वाली, जीवन के प्रेम को श्रेय में परिवर्तित करने वाली और समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी भावना से अनुप्राणित पंत ने 'युगवाणी' में उसकी स्वतंत्रता की वकालत करते हुए कहा—

मुक्त करो नारी को, मानव, चिर बन्दिनि नारी को,
युग युग की बर्बर कारा से जननि, सखी, प्यारी को !

छायावादी कविता में नारी एक रहस्यमयी शक्ति के रूप में भी अंकित हुई है। पुरुष उसकी इस शक्ति से इतना अधिक अभिभूत हो उठा कि उसने नारी के बाह्य रूप को

भूलकर उसमें अतीन्द्रिय सौन्दर्य की अनुभूति करनी प्रारम्भ कर दी। निराला के 'तुल
दास' की रत्नावली में हमें उस नारी के दर्शन मिलते हैं जिसके विराट् रूप ने रि
नारी-सम्बन्धी सभी रूढ़िबद्ध धारणाओं को आमूल परिवर्तित कर दिया है। मध्यु
कवि की मान्यता थी—

नारी की झाईं पड़े अन्धा होता भुजंग।

इसके विपरीत छायावादी पंत का उद्घोष है—

तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगास्नान।

इस प्रकार छायावादी रचनाओं में नारी को अत्यन्त गौरवशाली पद प्राप्त हु
है। यद्यपि इन रचनाओं में नारी का प्रेयसी-रूप ही प्रधान है, फिर भी इन कवियों ने ना
को श्रद्धामयी, करुणामयी, कल्याणी तथा प्रेममयी जीवनसंगिनी के रूप में चित्रित कर
सामाज एवं साहित्य को अभिनव जीवन-रस से सींच दिया है।

कल्पना की अतिशयता—छायावादी कवियों ने वास्तविक जगत् में अपनी अस
मता की पूर्ति कल्पना-लोक मे विचरण द्वारा की। उन्होंने क्षुधा-तृष्णा-पीड़ित मर्त्यलो
से बहुत दूर जाने की होड़ में कल्पना की बड़ी ऊँची-ऊँची उड़ानें भरीं और कल्पना-
सौन्दर्य की ओट में अपने मनोभावों का स्वच्छन्द प्रकाशन किया। उनकी कल्पना-प्रवणता
से प्रभावित समीक्षकों की अभ्युक्ति है कि 'छायावादी काव्य का मेरुदंड कल्पना है, उसमें
अनुभूति की गौणता है।' कल्पना का मुख्य कार्य है अलंकार-विधान जिससे अनुभूति को
मूर्तिमत्ता प्राप्त होती है। छायावादी कवि इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। उदाहरण के
लिए, 'संध्या', 'खद्योत,' 'तितली,' 'शुक्र' आदि कविताओं की मनोरम छटा दर्शनीय है।
मधुमती कल्पनाओं ने छायावाद के कला-पक्ष को विशेष समृद्ध किया है। छायावादी
कवियों की कल्पना केवल अलंकारों और प्रतीकों की योजना करने वाली सामान्य
प्रवृत्ति मात्र नहीं है। वह एक अन्तर्दृष्टि है जो सत्य का अन्वेषण करती है। इस
कल्पना का जन्म तीव्र भावावेग से हुआ है। इसीलिए छायावाद में कल्पना
और कविता परस्पर पर्याय बन गये हैं। तभी तो निराला ने कविता को 'कल्पना
के कानन की रानी' कहा है। कल्पना के योग से छायावादी रचनाओं में सौन्दर्य की
सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखाओं का चित्रण है तथा 'हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' व्यक्त हुआ है।
उनकी कल्पना इतनी अनूठी है कि वह नये-नये उपमानों का विधान करती है। ये उपमान
रूढ़िमुक्त न होकर सर्वथा नवीन हैं। पन्त की 'बादल' कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय
है। 'आँसू' आदि में जहाँ रूढ़िमुक्त उपमान आये हैं वहाँ भी नवीन कल्पना उत्पन्न हो
गयी है।

बाह्य प्रभाव—क्या विषय-वस्तु और क्या अभिव्यञ्जना-शैली, दोनों ही दृष्टियों
से छायावादी रचनाओं पर बाह्य प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सुमित्रा-
नन्दन पन्त स्वयं स्वीकार करते हैं, "मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्ड्-
सवर्थ, कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ"। महादेवी वर्मा की सर्व-
मान्य उक्ति है, 'यह युग (छायावाद) पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित, और बंगला की
नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही साथ ही उसके सामने ... भारतीय दर्शन की

रही।' रवीन्द्र की अनेक कविताओं की छाया पंत और निराला के अनेक गीतों पर है। महादेवी पर मीराबाई का प्रभाव तथा पंत पर कबीर के विचारों की स्पष्ट छाया है। उर्दू कविता का भी प्रभाव इस युग की रचनाओं पर पड़ा। इसी प्रभाव के परिणाम-स्वरूप हिन्दी में मधुशाला, हाला, मधुबाला आदि प्रतीकों की योजना हुई। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा ऑस्कर वाइल्ड के कलावाद का भी प्रभाव पड़ा। फलतः इन रचनाओं में अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को प्रमुखता तथा वर्ण्य-वस्तु को गौणता प्रदान की गयी। प्रसाद और निराला के शब्द-विन्यास पर संस्कृत एवं बँगला का स्पष्ट प्रभाव है।

शैलीगत विशेषताएँ—छायावादी काव्य द्विवेदीयुगीन रूक्ष काव्य के प्रति विरोध एवं प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित हुआ। छायावादी कविता में पद-लालित्य, लाक्षणिकता ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, संगीतात्मकता, चित्रात्मकता और ध्वन्यर्थव्यंजना, विशेषणविपर्यय, मानवीकरण आदि नवीन अलंकारों का यथेष्ट विनिवेश किया गया; स्वच्छन्द छन्दों की योजना की गयी; मुक्तकों का प्राधान्य रहा।

पद-लालित्य—द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और नीरसता के विरुद्ध छायावादी कविता की भाषा मधुरता एवं सरसता से युक्त हुई; उसमें कोमलकांत पदावली का व्यवहार हुआ जिसमें शब्द-सौन्दर्य एवं नाद-सौन्दर्य अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। पंत की 'नौका-विहार' कविता में शब्द-सौन्दर्य, मधुरता एवं कोमलकांत पदावली की शोभा द्रष्टव्य है—

> मृदु मन्द मन्द मंथर, मंथर लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर,
> तिर रही, खोल पालों के पर !

निराला के 'बादल-राग,' 'जुही की कली,' 'उद्बोधन' आदि में भी नाद-सौन्दर्य की विशेषता है। निराला और पंत की रचनाओं में नाद-सौन्दर्य की इतनी अतिशयता है कि यदि हम इन कवियों को नाद-सौन्दर्य का कवि कहें तो असमीचीन न होगा।

विषयानुरूप शब्द-चयन—छायावादी कवियों ने विषय के अनुरूप पदावली का चयन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली कविता का कलेवर कोमलता के साँचे में ढल गया। काव्यकला की दृष्टि से यह उपलब्धि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अभूतपूर्व थी। छायावादी कवियों ने सुन्दर शब्द-चयन द्वारा अपनी रचनाओं में चारुत्व, सजावट एवं संगीत की योजना की; पर्याय-शब्दों में अर्थ-भेद का ध्यान रखते हुए प्रसंगानुकूल प्रयोग करके अर्थ-विवेक का परिचय दिया। उन्होंने शब्द-संगति तथा शब्द-गुम्फन के संगीत पर भी ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए निराला की 'सन्ध्या-सुन्दरी' में वर्ण-संगति का लालित्य अवलोकनीय है—

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह संध्या-सुन्दरी परी सी
> धीरे धीरे धीरे।

यहाँ पर दिवसावसान-आसमान, समय-मेघमय, सुन्दरी-परी-सी, आदि शब्द-समूहों में स्वर एवं व्यंजन दोनों की आवृत्ति में आश्चर्यजनक रमणीयता है।

चित्रमयी भाषा—'चित्रमयी भाषा' का अर्थ है रूपव्यंजक शब्दों का प्रयोग। कविता के लिए चित्रमयी भाषा की उपयोगिता असंदिग्ध है। पंत ने उसकी उपयोगिता पर बल देते हुए 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है : "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके···।" छायावादी कविता में हमें चित्र-भाषा-पद्धति के दर्शन पदे-पदे उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए, पंत-रचित 'परिवर्तन' की कुछ पंक्तियों में चित्रमयी सार्थक भाषा का चमत्कार अवेक्षणीय है—

> अहे निष्ठुर परिवर्तन !
> तुम्हारा ही तांडव नर्तन
> विश्व का करुण विवर्तन !
> तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
> निखिल उत्थान, पतन !
> अहे वासुकि सहस्र फन !
> लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
> छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
> शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
> घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !

चित्र-भाषा के ही समान चित्रराग के भी पर्याप्त उदाहरण, छायावादी रचनाओं में मिलते हैं। चित्रराग का अर्थ है भाषा और अर्थ का सामंजस्य अथवा स्वरैक्य। इसकी व्यंजना अनेक रूपों में हुई, जैसे रूपव्यंजना, वर्णव्यंजना, भावव्यंजना, अनुभाव-व्यंजना आदि। उदाहरणार्थ—

रूप-व्यंजना : छलकते हिमजल से लोचन, अचलित तन अचलित मन,
धूलि से भरा स्वभाव प्रफुल्ल, मृदुल छवि, [illegible] [illegible] !—[illegible]

वर्ण-व्यंजना : उषा सौन्दर्यमयी मधुकान्ति सबल यौवन का उपविशेष।
सहज सुषमा मदिरा से मत्त अहा ! कैसा [illegible] वेश।—[illegible]

अनुभाव-व्यंजना : खाली भरत हुई अपने में उसने कुछ न कहा जाना,
गद्‌गद्‌ कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाना—[illegible]

संगीतात्मकता—छायावादी कवियों के संगीत ने खड़ीबोली की काव्य को [illegible] मधुरता प्रदान की है। उन्होंने [illegible] एवं [illegible] काव्यसृष्टि के साथ [illegible] [illegible] का प्रयोग किया है। इन उदाहरणों में संगीतात्मकता का अपना वैशिष्ट्य है। वे सम्पूर्ण [illegible] शब्दों का चयन करते हैं। उनके द्वारा व्यवहृत शब्दों के विशिष्ट प्रयोग एवं [illegible] [illegible] पर आधारित [illegible] अपनी विशिष्टता लिए हुए हैं। यों तो सभी छायावादी कवियों के काव्य में संगीत का तत्त्व विद्यमान है, किन्तु निराला और महादेवी इस क्षेत्र में अग्रगण्य हैं। निराला ने

'गीतिका' ऐसे ही गीतों का संग्रह है जिसमें कवि का ध्यान संगीत की ओर अधिक है, अर्थ-समन्वय की ओर अपेक्षाकृत कम; यथा —

अमरण भर वरण-गान
वन-वन उपवन-उपवन
जाग छवि, खुले प्राण।
मधुप-निकर कलरव भर,
गीत-मुखर पिक-प्रिय-स्वर,
स्मर-शर हर केसर-झर,
मधुपूरित गंध, ज्ञान।

लाक्षणिकता—छायावादी कवियों ने हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की सांकेतिक अभिव्यक्ति के निमित्त लाक्षणिक भाषा का ही अधिकांश प्रयोग किया है। भाषा का यह रूप भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपादेय है। छायावादी कवियों की यह लाक्षणिकता अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से विशिष्ट महत्व की है। पंत की उक्ति है—

मर्म पीड़ा के हास !
रोग का है उपचार;
पाप का भी परिहार; —पल्लव

यहाँ 'हास' से अभिप्राय विकास या समृद्धि से है तथा विरोध-वैचित्र्य के लिए व्यंग्य-व्यंजक भाव को लेकर लक्षणा व्यवहृत हुई है। आधार-आधेय सम्बन्ध से 'मर्म पीड़ा के हास' का अर्थ होगा—हे मेरे पीड़ित मन। इसी प्रकार—

चाँदनी का स्वभाव में वास।
विचारों में बच्चों की साँस।

उक्त पंक्तियों में 'चाँदनी' का लक्ष्यार्थ मृदुलता और शीतलता है तथा 'बच्चों की साँस' से अभिप्राय भोलेपन से है।

प्रतीकात्मकता—जिस मूर्त वस्तु के वर्णन द्वारा अमूर्त रहस्य या मनःस्थिति की व्यंजना की जाती है उसे 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक की प्रमुख विशेषताएँ हैं: 'अधिकाधिक अर्थ-छायाओं के द्वारोन्मोचन की सम्भावना और एक मूल व्यापक भाव की सार्वभौमता'। छायावादी कवियों की कृतियों में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। प्रतीकों की इस बहुलता के कारण छायावादी काव्य की भाषा प्रतीक-प्रधान भाषा कही गयी है। कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं, यह सामान्य नियम छायावादी कवियों तथा उनकी रचनाओं में विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ है। अतः इन रचनाओं में प्रतीकात्मकता का समावेश अत्यन्त स्वाभाविक है। सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल आदि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के लिए कुसुम; प्रेमी के लिए मधुप; दोष के लिए शूल, रजत आदि; माधुर्य के लिए मधु; दीप्तिमान् के लिए स्वर्ण; विषाद के लिए अंधकार; भावुकता या क्षोभ के लिए झंझा, तूफान आदि; भाव-तरंगों के लिए झंकार आदि प्रतीकों के प्रयोग छायावादी रचनाओं में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए हम 'आँसू' की निम्नांकित पंक्तियों में

सकते हैं—

झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।

यहाँ 'झंझा झकोर' क्षोभ या आकुलता का, 'गर्जन' वेदना की तड़प का, 'बिजली' चमक या टीस का तथा 'नीरदमाला' अंधकार का प्रतीक है। इसी प्रकार—

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखी-सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में!

इस पद्य में 'पतझड़' उदासी का, 'किसलय नव कुसुम' सरसता और प्रफुल्लता का प्रतीक है।

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में जिज्ञासा को प्रबुद्ध करने और सूक्ष्म झलक देने की पद्धति का प्राधान्य रहता है। इसमें भाषा एवं प्रयोग के महत्त्व पर विशेष बल दिया जाता है। जब प्रतीक सामान्य अनुभूति के मेल में होते हैं तब वे स्वाभाविक लगते हैं तथा प्रभविष्णु भी होते हैं, अन्यथा कृत्रिम और प्रभावहीन। प्रतीक-योजना का आधार प्रभाव-साम्य हुआ करता है। छायावादी कवियों ने प्रभावसाम्य पर विशेष दृष्टि रखी है जिससे उनकी रचनाओं में प्रतीकों की अत्यंत मनोरम व्यंजना हुई है।

मानवीकरण—छायावादी कवि अलंकृत-शैली के कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता को प्राचीन एवं नवीन अलंकारों से भलीभाँति सजाया है। परंपरा-प्रसिद्ध रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि के अतिरिक्त तीन नूतन अलंकारों का सन्निवेश विशेष ध्यान देने योग्य है : मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थव्यंजना। छाया को सम्बोधित करके पंत पूछते हैं—

कहो कौन हो दमयंती सी तुम तरु के नीचे सोई?
हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि, नल-सा निष्ठुर कोई?

ज्वाला पर मानवता का आरोप करके प्रसाद कहते हैं—

मणिदीप विश्व-मन्दिर की पहने किरणों की माला
तब भी तुम सतत अकेली जलती हो मेरी ज्वाला!

उपर्युक्त पंक्तियों में छाया और ज्वाला के मानवीकरण (पर्सनीफ़िकेशन) द्वारा उक्ति-वैचित्र्य में निस्संदेह मार्मिकता आ गयी है।

विशेषण-विपर्यय—विशेषण-विपर्यय अंगरेज़ी के 'ट्रान्सफ़र्ड एपिथेट' का रूपांतर है। छायावादी कवियों ने इस लक्षणा-विशिष्ट अलंकार का बहुल प्रयोग किया है।

उस चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम

निराला की इस पंक्ति में पनघट के विशेषण-रूप में प्रयुक्त 'व्याकुल' शब्द वस्तुतः पनघट पर जाने वालों की व्याकुलता का द्योतक है। 'आँखों का बचपन', 'अल्हड़ खेल', 'भोली आत्मकथा', 'मौन व्यथा', 'आकुल तान', 'नीरव गान', 'अलसित वन', 'सुरीला हाथ', 'तुतला उपक्रम' 'मूर्च्छित आतप', 'तुमुल तम', 'मादक कर', 'शीतल भ्रू-पात', 'जीवित छाया', 'वृद्ध अनुभव', 'नील झंकार' आदि इस प्रकार के प्रयोग छायावादी कविताओं में भरे पड़े हैं।

ध्वन्यर्थव्यंजना—ध्वन्यर्थव्यंजना (ग्रॉनोमैटोपीया) छायावाद की एक ग्रन्य विशेषता है। उदाहरणार्थ, निम्नांकित पंक्तियों में ग्रर्थव्यंजक ध्वनियों की सटीक योजना की गयी है—

> घूम घुँमारे, काजर कारे, हम ही बिकरारे बादर!
> मदनराज के बीर बहादुर, पावस के उड़ते फणिधर!
> चमक झमकमय मंत्र वशीकर, छहर छहर मय विष सीकर
> स्वर्ग सेतु-से इन्द्रधनुषधर, कामरूप घनश्याम ग्रमर!—पंत

पंत की 'नौका-विहार', निराला की 'निशा के उर की खुली कली', महादेवी की 'भीगी ग्रलकों के छोरों से' ग्रादि कविताग्रों में इस ग्रलंकार का रमणीय प्रयोग हुग्रा है।

मुक्तकों की प्रचुरता—काव्य-रूप की दृष्टि से छायावादी कवियों की ग्रधिकांश रचनाएँ गीत या प्रगीत मुक्तक है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीयुगीन विषयप्रधान पद्य-निबंधों से ऊबकर छायावादी कवियों ने ग्रात्माभिव्यंजक मुक्तकों की शरण ली। वे रवीन्द्रनाथ एवं स्वच्छंदतावादी ग्रंग्रेजी कवियों से प्रभावित हुए। जीवन-संघर्ष की तीव्रता ने भी उन्हें मुक्तक-रचना की ग्रोर प्रेरित किया। रचना-विधान के इस प्रवाह का प्रभाव इस युग की प्रबंधात्मक रचनाग्रों पर भी परिलक्षित होता है। 'साकेत', 'यशोधरा' ग्रादि प्रबंधात्मक रचनाग्रों में भी मुक्तक-गीतों का स्वच्छंदतया समावेश किया गया।

छंद-बंधन का परित्याग—छायावादी कवियों ने छंद के बंधन को तोड़कर ग्रभिव्यंजना-शैली के क्षेत्र में ग्रभूतपूर्व क्रांति की। निराला उन सब में ग्रग्रणी है। उन कवियों ने छंदों की सीमा के ग्रंतर्गत घुटन का ग्रनुभव किया; फलत: वे मुक्त-छंदों के स्वच्छंद प्रयोग में प्रवृत्त हुए। पंत का यह कथन कि 'खुल गये छन्द के बंध' तथा निराला की यह उक्ति कि 'छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह' हमें छायावादी कवियों की एतद्विषयक मनोवृत्ति का पूर्ण परिचय प्रदान करती है। 'पल्लव', 'परिमल' ग्रादि में संगृहीत कविताएँ छांदमिक स्वतंत्रता का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन कवियों ने स्वच्छंदता का ग्राश्रय लेकर कविता को छंदहीन कर दिया। इन कवियों ने यह विद्रोह छंद के बाह्याडंबर के प्रति ही किया, छंद की ग्रात्मा (लय) की उपेक्षा नहीं की। इस ग्राडंबर से मुक्ति प्राप्त करने का उद्देश्य ही था छंद की ग्रात्मा (लय) का ग्रधिकाधिक मुक्त विकास। हिंदी में मुक्त-छंद का प्रवर्तक निराला को माना जाता है। उनकी 'जुही की कली' मुक्त-छन्द की प्रथम कविता मानी जाती है। इस कविता के चरण विषम हैं तथा भावावेग के ग्रनुसार इसके चरणों का विस्तार एवं संकोच हुग्रा है। इसी प्रकार ग्रन्य कविताग्रों में भी भावावेग के ग्रनुसार चरण छोटे या बड़े हैं। छायावाद ने भाव-स्वच्छंदता की ग्रावश्यकता से प्रेरित होकर मुक्तछंद का प्रचलन किया। इससे भाव-प्रवाह की ग्रन्विति में सहायता मिली।

छायावाद के दोष—छायावाद की उपर्युक्त विशेषताएँ उसे काव्य की उच्चकोटि में प्रतिष्ठित करती हैं। परन्तु उसमें कुछ ऐसे दोष भी हैं जिनके कारण छायावादी कविता जनसाधारण में समादृत न हो सकी ग्रौर उसका युग शीघ्र ही समाप्त हो गया। जीवन से विच्छिन्नता, एवं लोक-संवेदना का तिरस्कार, सौंदर्य की ग्रोट में विकृत मनोभावों की

अभिव्यक्ति, सीमित सौंदर्य-सृष्टि, सुचिंतित साधना की कमी, अनुभूति की गौणता, कल्पना की अतिशयता, दुरूह प्रतीक-विधान, कुंठा की बहुलता, स्वप्निलता, पलायनवादी भावना, प्रच्छन्न शृंगार का चित्रण, वेदना पर बल, व्यक्तिगत भावनाओं का प्राबल्य, ऐंद्रिय रूप-सौंदर्य की लिप्सा, अस्वस्थ एवं निराशाजनक दार्शनिकता, दुःख की साधना-रूप में स्वीकृति, शब्द-मोह आदि दोष छायावादी रचनाओं में विशेष रूप से पाये जाते हैं। कुछ का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

शब्द-चित्रों एवं अलंकारों के प्रति मोह—छायावादी कवि की बहुत बड़ी दुर्बलता है शब्दों, चित्रों और अलंकारों के प्रति उसका मोह। श्रेष्ठ कलाकार इस दुर्बलता से सर्वथा मुक्त रहने का यथासंभव प्रयास करता है तथा अनुभूति पर बल देता है। भाषा अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है, साध्य नहीं; अतः श्रेष्ठ कवि शब्दाडंबर से यथाशक्ति बचने का प्रयत्न करता है। वह शब्द-प्रयोग में मितव्ययिता का आश्रय लेता है।

छायावादी कवि शब्द-जाल की दुर्बलता से नहीं बच पाये। शब्दों के व्यवहार में वे अपव्ययी हो गये हैं। उनका लक्ष्य रहा है सुन्दर एवं मधुर शब्दों के चयन द्वारा रचना को आकर्षक बनाना; इसलिए सुमित्रानन्दन पन्त को कहना पड़ा, "छायावाद काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया और उसमें केवल टेक्नीक और आवरण मात्र रह गया।" शब्दाडम्बर के समान ही चित्रों का जमघट भी इन कवियों में देखने को मिलता है; विशेष रूप से पन्त में।

केन्द्रापगामी अभिव्यंजना-प्रवृत्ति—प्रत्येक कविता का एक केन्द्रगत भाव हुआ करता है जिसके आस-पास उस कविता में आये हुए विभिन्न चित्र, उपमान, कल्पनाएँ आदि केन्द्रित होती हैं। जब ये चित्र तथा कल्पनाएँ उस केन्द्रगत भाव को पुष्ट न कर व्याघात पहुँचाती हैं तब हम उसे 'केन्द्रापगामी प्रवृत्ति' की संज्ञा देते हैं। इस प्रवृत्ति से कविता में दुरूहता तथा अस्पष्टता आ जाती है। छायावादी कवियों की बहुत-सी रचनाएँ इस दोष से ग्रस्त हैं। केन्द्रापगामिता का यह दोष पन्त, निराला, महादेवी, प्रसाद आदि सभी छायावादी कवियों में न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है। उदाहरण के लिए हम निराला के 'प्रगल्भ-प्रेम' की निम्नांकित पंक्तियाँ ले सकते हैं—

> आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
> अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
> प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह
> गजगामिनी, वह पथ तेरा संकीर्ण,
> कंटकाकीर्ण।
> कैसे होगी उस पार !
> काँटों में अंचल के तेरे तार निकल जायेंगे
> और उलझ जायेगा तेरा हार
> मैंने अभी-अभी पहनाया
> किन्तु नजर भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया।

इस उद्धरण के उत्तरार्द्ध में कवि 'कंटकाकीर्ण' विशेषण के मोह में पड़कर कविता की गति

उसी से निर्धारित करने लगा है। यहाँ वह अलंकार को यथार्थ से अधिक महत्त्व दे बैठा है और इसीलिए उसकी प्रवृत्ति केन्द्रापगामी हो गयी है।

असामंजस्य—केन्द्रापगामिता से ही सम्बद्ध दोष है असामंजस्य अर्थात् सामञ्जस्य का अभाव। सामंजस्य का यह अभाव विचारगत एवं रागगत दोनों ही प्रकार का होता है। वह रचना-सौष्ठव और अस्पष्टता पर आधात करता है। श्रेष्ठ कलाकार अनुभूति के विविध अवयवों के क्रमिक विन्यास तथा भावों के व्यवस्थित आरोह एवं अवरोह की प्रतिष्ठापना करता है। जहाँ इस विशेषता का अभाव होता है वहीं असामंजस्य होता है। विचारगत अथवा बौद्धिक क्रम के बिना रचना में उत्कर्ष नहीं आता। उदाहरण के लिए निराला की 'गीतिका' और 'अनामिका' की कुछ प्रारम्भिक कविताओं में यह दोष देखा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप वे अस्पष्ट एवं दुरूह हो गई हैं।

'स्पंदन में चिर निस्पंद बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा' (महादेवी)

आदि कुछेक गीतों में कल्पना की प्रधानता के कारण रागात्मक इकाई विच्छिन्न हो गयी है।

वास्तविक अनुभूति का अभाव—अधिकांश छायावादी काव्य "कल्पना-प्रसूत है, और वह कल्पना, अधिकांश स्थलों में, आवेगमयी नहीं, 'मूड' की अनुवर्तिनी है।" उसमें अनुभूति की सच्चाई कम है, प्रतिभा का विलास अधिक है। छायावादी कवि प्राचीन श्रेष्ठ कवियों के विपरीत, प्रस्तुत वास्तविकता की ही व्याख्या नहीं करता बल्कि स्वयं एक नयी वास्तविकता की कल्पना करके उस पर उत्प्रेक्षाएँ करता है। उसकी ये उत्प्रेक्षाएँ 'इव' 'मानो','जिमि' आदि शब्दों की अपेक्षा नहीं करतीं। वह तो अभेद-रूपक का आश्रय लेकर अपना काम चलाता है, दुरूहता एवं अस्पष्टता की किंचिन्मात्र परवाह नहीं करता। पन्त के 'स्वप्न' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

> बालक के कंपित अधरों पर किस अतीत सुधि का मृदु हास
> जग की इस अविरत निद्रा का करता नित रह-रह उपहास ?

यहाँ कवि ने पहले तो यह कल्पना की है कि बालक के कंपित अधरों पर अतीत-सुधि का हास है और फिर उस कल्पना की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह हास जग की अविरत निद्रा का उपहास करता रहता है। यहाँ वास्तविकता की उपेक्षा करके कवि ने पाठक की विश्वास-भावना पर असह्नीय बोझ डाल दिया है।

कल्पना अनुभूति की सहायक अर्थात् अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। श्रेष्ठ कला-कार जीवन और जगत् की मार्मिक छवियों का इस प्रकार का संगठन करता है कि वे सहृदय के हृदय का स्पर्श कर सकें। छायावादी कवियों की दृष्टि ऐसी छवियों पर कम रही है। उनकी कल्पना-प्रधान अनुभूति मे भावक का हृदय-प्रसार नहीं हो पाता, क्योंकि उनकी उक्तियों मे बुद्धिव्यापार का अनावश्यक प्राधान्य है। अनुभूति की वास्तविकता की कमी के कारण कभी-कभी पाठक को यह सन्देह होने लगता है कि कवि की विरह-वेदना आदि अनुभूतियाँ कृत्रिम हैं। अधिकांश छायावादी कवि कल्पना-चमत्कार मे अभिभूत हैं, उनका काव्य स्वतःस्फूर्त नहीं है, "अनियन्त्रित इमोशनों की अभिव्यक्ति" नहीं है। उसमें रागात्मक सम्बन्ध की न्यूनता है। वह हमारी अन्तःप्रकृति का स्पर्श नहीं कर पाता। वे कवि

मानवता के ठोस जीवन से बचकर ललित कल्पनाओं में विचरण करना अधिक पसन्द करते हैं। प्रस्तुत प्राकृतिक दृश्य को देखते-देखते उनके मन में कल्पना के पंख लग गए और वे ऊपर उड़ चले जिससे उनकी आँखों के सामने अनेक अप्रस्तुत दृश्य तैरने लगे। वे अप्रस्तुत दृश्य प्रस्तुत से मिलते-जुलते तो हैं किन्तु आकार-साम्य की अपेक्षा एक नये ढंग के प्रभाव-साम्य पर अधिक आश्रित हैं; वे भावावेग-जन्य कल्पना के परिणाम हैं, गहरी अनुभूति पर आश्रित नहीं। इसलिए कभी-कभी वे कौतुक के लिए एकत्र किये गये उपकरणों के समान प्रतीत होने लगते हैं; जैसे पन्त की 'छाया' में।

लोक-संवेदना का तिरस्कार—छायावादी रचनाओं में लोक-संवेदना की उपेक्षा की गयी है। उनमें जन-मानस से दूर अतिकल्पना का तत्त्व पाठक की रागात्मिका वृत्ति को प्रभावित नहीं कर पाता, उनमें साधारणीकरण की अपेक्षित शक्ति नहीं है। अनावश्यक सूक्ष्म गुफन की प्रवृत्ति के कारण छायावादी काव्य सामान्य जनता के लिए ग्राह्य न हो सका। जीवन का विशद स्पर्श एवं उसकी विशद अभिव्यक्ति ही चिर-नवीन एवं सतत-रोचक वस्तु है। जो कवि जीवन की वास्तविकताओं की अवहेलना करके वायवी वातावरण में विचरण करता रहता है वह महान् साहित्यकार नहीं हो सकता। जीवन से विच्छिन्न होकर कोई भावधारा श्रेयस्कर नहीं हो सकती। आसमानी भावविलास में लीन छायावादी कवि कभी-कभी नितान्त अंतर्मुख होकर प्रकृति के वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के स्थान पर अपने ही सूक्ष्म मनो-भावों को देखने लगते हैं—

> वह खड़ी दृगों के सम्मुख सब रूप, रेख, रँग ओझल,
> अनुभूति मात्र सी उर में आभास शांत, शुचि, उज्ज्वल !
> वह है, वह नहीं, अनिर्वच, जग उसमें वह जग में लय,
> साकार चेतना सी वह, जिसमें अचेत जीवाशय !—पन्त

छायावादी कविता में भावावेग की अतिरंजना के कारण जीवन के अनेक पक्ष छूट गए हैं। अतिव्यक्तिवादी प्रवृत्ति ने उन कवियों का सपर्क उस व्यापक जन-जीवन से न जुड़ने दिया जो साहित्य, कला और संस्कृति का अक्षय स्रोत है और जिससे विच्छिन्न कोई साहित्य, कला अथवा संस्कृति जीवित नहीं रह सकती।

पद-रचना-सम्बन्धी दोष—छायावादी कवियों की रचनाओं में भावावेग के कारण कहीं भाषा पीछे छूट गयी है, कहीं पद-क्रम में उलट-फेर हो गया है जिससे उनमें दुरूहता आ गयी है। छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' से उदाहरण लीजिए—

> मनन करावेगी तू कितना ?
> उस निश्चिन्त जाति का जीव;

यहाँ वाक्य का वास्तविक रूप है—मैं उस निश्चिन्त जाति का जीव हूँ......। यहाँ कर्ता तथा क्रिया के लोप से अर्थ समझने में कठिनाई का अनुभव होता है। इसी प्रकार 'मन जिसमें सुख सोता था' वाक्य में 'सोता था' क्रिया का कर्ता 'मन' है और 'सुख' शब्द के पश्चात् 'से' परसर्ग छूट गया है, जिससे वाक्य की बोधगम्यता नष्ट हो गयी है। यदि यह वाक्य इस प्रकार लिखा जाता—'जिसमें मन सुख से सोता था' तो यह दुरूहता न आने पाती।

उपसंहार—यह सत्य है कि छायावादी कविता मे अनेक दोष हैं। इसमें लोक-मगल-विधायक जीवन-दर्शन की कमी है; लोक-सवेदना की उपेक्षा है; पीडा, निराशा एव पलायन-प्रवृत्ति की अधिकता है; कल्पना-रजित वायवी वातावरण की सृष्टि है, सौन्दर्य का क्षेत्र परिसीमित है; कही-कही विकृत मनोभावो की अभिव्यक्ति है; सुचिंतित साधना और अनुभूति की सच्चाई नही पायी जाती, शब्द-चित्रों और अलकारो के प्रति मोह है; भाषा में दुरुहता है। परन्तु, इन दोषों की तुलना मे उसके गुण कही अधिक हैं। छायावाद ने द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक नीरसता से ऊपर उठकर खड़ीबोली-कविता को सौन्दर्य और सरसता की भूमि पर प्रतिष्ठित किया। सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण, सर्वात्मवादी रहस्य-भावना उदात्त शृंगार, नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण, मधुमती कल्पना, पद-लालित्य, चित्र-विधान, संगीतात्मकता, उपचार-वक्रता, ध्वन्यात्मकता, रमणीय प्रतीक-योजना, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यर्थव्यजना आदि अभिनव अलकारों के मनोहर विन्यास ने छायावादी कविता को उत्कर्ष प्रदान किया है। अपने पूर्वोक्त दोषो के बावजूद छायावादी काव्य खड़ीबोली-पद्य-साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है।

पुनर्मूल्यांकन

सुमित्रानंदन पंत

छायावादी कलाबोध की मुख्य विशेषता यह रही कि वह अभिव्यक्ति की दृष्टि से पुनः अभिव्यंजना के मूल स्रोतों की ओर, अर्थात् बाह्य-प्रकृति और अन्तश्चैतन्य की ओर, अग्रसर हो सका। द्विवेदी-युग का काव्य कलाबोध की दृष्टि से भी वस्तुनिष्ठ रहा। वह भले ही रीतिकाल के कृत्रिम, व्युत्पन्न, काव्यशास्त्रीय व्यवस्था के ढाँचे से आक्रान्त न रहा हो, पर वह कलात्मक-मौलिकता के अभाव में परम्परागत शास्त्रीयबोध से ही परिचालित रहा। उसकी दृष्टि वस्तुनिष्ठ होने के कारण वह कला की अभिव्यंजना में भी कोई नवीनता या चमत्कार पैदा न कर सका, क्योंकि मुख्यतः पुनर्जागरण का काव्य होने के कारण उसकी काव्यवस्तु पौराणिक एवं मध्ययुगीन रूप-बोध की सीमाओं में ही बँधी रही और जिस वस्तु की धारणा—अतीत जीवन की मान्यताओं, मर्यादाओं, नैतिक दृष्टिकोण, रहन सहन की पद्धतियों तथा घिसे-पिटे सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों में चिर-परिचित तथा अभ्यास-जीर्ण हो जाने के कारण उसमें एक प्रकार का बासीपन तथा सौन्दर्यबोध की दृष्टि से फीकापन आ गया था। अतः अक्षरमात्रिक कवित्त छन्द की बोझिल आलाप-प्रधान पद-योजना से मुक्त होकर ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक-छन्दों की अधिक स्वाभाविक एवं लय-चपल गति प्राप्त कर लेने पर भी द्विवेदी-युग का काव्य नवीन कला-भंगिमा से वंचित ही रहा।

उस युग के प्रगीतों, खण्ड-काव्यों तथा 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास' जैसे महाकाव्यों में भी केवल भारत के विगत जीवन की अभिव्यक्ति को ही पुनः अभिव्यक्ति मिली है, भले ही उसमें युग के अनुरूप कुछ परिवर्तन कर दिये गए हों, पर वे मात्रा तक ही सीमित रहे, जीवन-दृष्टि में प्रकारान्तर उपस्थित नहीं कर सके, और न जिससे भाव-बोध, कला उपकरणों, अलंकारों तथा भाषा के रूपों को ही नये सौन्दर्य-बोध से मण्डित कर सकें। गुप्तजी की भी दो-एक कृतियों को छोड़कर उस युग का सृजन—चाहे वह 'भारत भारती' हो या 'जयद्रथ-वध', 'वैदेही-वनवास' हो या 'यशोधरा'—नवीन भाव-क्रान्ति के प्रेरणामय स्पर्श से शून्य होने के कारण नवीन कला-बोध को जन्म देने में असमर्थ रहा। व्यक्तिगत दृष्टि से उन कवियों की कुछ विशिष्ट उपलब्धियाँ रही हों पर हम युग-सापेक्ष दृष्टि से ही यहाँ विचार कर रहे हैं, इसलिए विस्तारों की चर्चा नहीं कर सकेंगे।

छायावाद भाव-बोध की दृष्टि से जहाँ, विगत वस्तु-बोध की भूमिका को छोड़कर, एक ओर नवीन चैतन्य के शिखरों की ओर बढ़ा, वहीं कला-बोध की दृष्टि से, वह काव्य-[illegible] बढ़, द्विवेदी-युग की सौन्दर्य-धारणा से आगे को मुक्त कर, सीधा प्रकृति के

मुक्त-पंख-प्रसारों में विचरण कर, नये सौन्दर्य-उपादनों की खोज में निकल गया । उसने चिर-परिचित सन्ध्या-प्रभातों, ऋतुओं की परिक्रमाओं, पर्वत के अभ्रभेदी मौन, नदी के दिक्चुंबी प्रवाह, फूल, पल्लव, तरु-मर्मर तथा अन्तरिक्ष को एक नवीन अर्थवत्ता, नवीन सौन्दर्य-चेतना प्रदान कर, नये काव्य-सचरण के लिए नये कलात्मक-उपकरणों का सचयन करना प्रारम्भ कर दिया । उसने अपनी मूर्ति-विधायिनी कल्पना से प्रकृति का मानवीकरण कर मनुष्य की कला-रुचि का परिष्कार करने के लिए नवीन सौन्दर्य की प्रतिमा का निर्माण किया । इस अनन्त रूपरगमयी प्रकृति के असंख्य रूपों का चित्रण कर उसने जन-सकुल नागरिक-जीवन की संकीर्णता में खोये हुए मनुष्य के हृदय को उबार कर, उसके सम्मुख दिगन्त-विस्तृत जीवन-प्रागण खोल दिया, जिसमें उन्मुक्त सांस लेकर वह नवीन जीवन-प्रेरणा ग्रहण कर सके । निसर्ग से तादात्म्य स्थापित कर उसने सुख-दु:ख की भावना को सीमित मन:स्थितियों की घुटन से मुक्त कर उसे चारों ओर प्राकृतिक व्यापारों मे व्याप्त कर, मनुष्य को प्रकृति के और प्रकृति को मनुष्य के नि:सीम, अनन्य स्नेहपाश मे बाँध दिया। मध्ययुगीन जड़-प्रकृति छायावाद मे सजीव तथा सचेतन होकर, अपनी महान् उपस्थिति से, इस सक्रान्ति-युग के सघर्ष-पीड़ित, आत्ममूढ़ मनुष्य को अजस्र सात्वना प्रदान करने लगी । इस प्रकार छायावाद ने अपना सौन्दर्य-बोध विगत-युगों के सचय-स्वरूप जीर्ण खलिहानों एव भण्डारों से उधार न लेकर, उसे स्वय नये रूप से प्रकृति के उर्वर आँगन मे उगाया, और उसकी प्राणमयी सुनहली बालियो से अपनी नवमुग्धा काव्य-चेतना का शृंगार किया।

शब्दों से नये अर्थ, अर्थों से नयी चेतना, चेतना से नया कला-बोध और कला-बोध से नयी सौन्दर्य-भंगिमा हृदय को स्पर्श कर नये रस का संचार करने लगी। रस, प्राचीन काव्यशास्त्रीय नीरस परिभाषाओं या व्याख्याओं की कूप-दृष्टि से मुक्त होकर, नवीन मूल्य-साधना का विषय बन गया । इसीलिए छायावादी-काव्य जीर्ण अभिधा को पीछे छोड़कर अपने लाक्षणिक प्रयोगों, व्यजनात्मक सकेतों तथा निगूढ़ ध्वनि-स्पर्शों से अपने शब्दों की मितव्ययिता एवं अर्थ और भाव-सयम द्वारा उस अमूर्त नये मूल्य को वाणी देने का प्रयत्न करने लगा, जो विगत जीवन-मान्यताओं का अतिक्रम कर, युग-मानव की चेतना मे उदय हो रहा था । रूप-सौन्दर्य से अधिक भाव-सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के कारण उसमे नये प्रतीकों, बिम्बों एवं अप्रस्तुत-विधानों का प्राधान्य मिलता है । कला-पक्ष आगे चलकर छायावाद मे—उदाहरणार्थ, निराला और मुझमे—इसीलिए गौण हो गया कि नये यथार्थ को अभिव्यक्ति के लिए उसका सुन्दर शिव बन गया, जब तक वह केवल ऊर्ध्व अन्त:-सत्य को वाणी देता रहा वह मुख्यत: कला-पक्ष-युक्त ही रहा, बहि:-सत्य अथवा लोक-वास्तविकता की भूमि पर उसे कभी कला-नग्न दिगम्बर-शिव भी बन जाना पड़ा । इस कलावाद का पुनरुत्थान नयी कविता में हुआ जब वह फिर सत्य की अनुभूति अन्तर की उपचेतन गहराइयों में पाने की ओर मुड़ी। छायावाद ने भाषा को अकल्पनीय शक्ति प्रदान की । रीढ़ के बल रेंगने वाली द्विवेदीयुगीन भाषा अभिव्यक्ति की अतुल क्षमता पाकर उर्ध्व-रीढ़ होकर जीवन के उच्च-सम धरातलों पर भी उन्मुक्त विचरने लगी । छायावाद ने भाषा की भाव-शिराओं में नये जीवन-रक्त का सचार

कर उसके रूप-विधान को अभिनव सशक्त सौन्दर्य-भंगिमा एवं शब्दों की नवचेतन अर्थवत्ता प्रदान की।

छायावादी वस्तुतः नवीन युग के काव्य का एक व्यापक संचरण था जिसे प्रगतिवादी तथा नयी-कवितावादी भी अभिव्यक्ति देते रहे हैं। इसकी प्रेरणा के स्रोत के प्रति अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। वह केवल नये मूल्य का बौद्धिक-बोध ही नहीं, भावनात्मक, रागात्मक तथा चेतनात्मक अनुभूति भी रहा। आकार-प्रकार के विकास के लिए, चाहे वह कलात्मक हो, या जीवन-प्रणाली-सम्बन्धी, परम्परा का बोध आवश्यक है, किन्तु उसे नयी अर्थवत्ता तथा आत्मा से अनुप्राणित करने के लिए अन्तश्चैतन्य-सम्बन्धी नये मूल्य का बोध अनिवार्य है। जैसा मैं सम्भवतः पहले भी कह चुका हूँ छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्य-निष्ठ रहा है, उसमें व्यक्ति, मूल्य का प्रतिनिधि रहा है और जैसे-जैसे मूल्य के प्रति दृष्टिकोण का विकास होता रहा उसका व्यक्ति-तत्त्व भी विकसित होकर युग के सम्मुख एक अधिक व्यापक, आदर्शोन्मुखी तथा यथार्थ-आधृत जीवन-दृष्टि उपस्थित करने की चेष्टा करता रहा। छायावादी आदर्श विगत युगों की एकदेशीय उदात्तता को अतिक्रम कर विश्वमुखी औदात्य से अनुप्राणित रहा है। उसकी यथार्थ-भावना की परिणति प्रकृति के जीव-यथार्थ से ऐतिहासिक-यथार्थ में हुई है।

छन्द की दृष्टि से श्रेष्ठतम छायावादी काव्य की सर्जना ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दों में हुई है, क्योंकि ह्रस्व-दीर्घ मात्रा-विधान ही में हिन्दी भाषा का स्वाभाविक उच्चारण-संगीत अन्तःसंगठित मिलता है। निरालाजी के अनेक प्रगीत, मुख्यतः 'गीतिका' और 'तुलसीदास' इसके सर्वोत्तम प्रमाण हैं। हिन्दी के मुक्त-छन्दों में अधिकतर ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक ही छन्द पाया जाता है। निरालाजी ने भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मुक्त-छन्दों का यथेष्ट प्रयोग किया है। यद्यपि उनके अधिकांश मुक्त-छन्द अक्षर-मात्रिक ही मिलते हैं, जो स्वाभाविक है। बंगाल में शिक्षा-दीक्षा होने के कारण उनके किशोर मन पर गवैष्टिक ह्रस्व-दीर्घ तथा बंगाल में प्रचलित अक्षर-मात्रिक छन्दों का अत्यधिक प्रभाव रहा है और किशोर मन के संस्कार कठिनाई से छूटते हैं। किन्तु सबसे बड़ी सार्थकता निरालाजी के अक्षर-मात्रिक छन्दों की यह है कि वे मुख्यतः शक्ति तथा ओज के कवि रहे हैं, और अक्षर-मात्रिक छन्दों का निर्वाह अपनी बँगला की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा की शक्तिमत्ता के कारण जितना अच्छा निरालाजी कर सके हैं, उतना और कवि नहीं कर पाये हैं। 'जुही की कली' आदि जैसी उनकी कुछ शृंगारिक कविताएँ भी अक्षर-मात्रिक में मिलती हैं। किन्तु उनकी सफलता भी बँगला की सी सामासिक पद-योजना के कारण ही सम्भव हो सकी है।

दिनकर, बच्चन, भारती, नरेन्द्र, गिरिजा कुमार आदि कवि अधिकतर ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मुक्त-छन्द का ही प्रयोग करते हैं और नये कवि भी शमशेर, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर आदि जहाँ वे लय-छन्द में लिखते हैं वह प्रायः ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक ही मुक्त-छन्द होता है। बहुत-सी आधुनिकतम कविता 'पत्ता और बूढ़ा चाँद' की तरह छन्दहीन भी रहती है। यह दूसरी बात है कि उसमें लय से भी परे एक स्वर-संगति तथा भाव-संगति मिलती है। निरालाजी को छोड़कर शेष छायावादी तथा उत्तर छायावादी कवि ने अक्षर-मात्रिक छन्द का नहीं के बराबर प्रयोग किया है। यह सब होते हुए भी

मनारोचित नाटकीय काव्य, बौद्धिक काव्य, प्रवचन-काव्य, ओज-प्रधान काव्य तथा जिसे अंग्रेजी में लाउड थिंकिंग कहते हैं, उस सबके लिए अक्षर-मात्रिक छन्द सम्यक् रूप से प्रयुक्त हो सकता है और हो रहा है। मूल्यांकन की दृष्टि से मैं दोनों में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्द को ही, चाहे वह बद्ध हो या मुक्त, उच्च स्थान दूंगा, क्योंकि वह हिन्दी-काव्य की भावात्मक-संवेदना के अधिक निकट है। साधारणतः छन्द-विधान में परिवर्तन, तथा अलंकार और चित्रभाषा आदि के सम्बन्ध में 'पल्लव' की भूमिका में मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं, छायावाद की अभिव्यंजनावादी शैली के विषय में मैं अब भी उनकी उपयोगिता मानता हूँ। सूक्ष्म सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से मैंने स्वरों को, जिन्हें अंग्रेजी में 'वॉवेल्स' कहते हैं, काव्य-संगीत का मूल-तत्त्व माना है और व्यंजनों को भावाभिव्यक्ति के लिए केवल गौण रूप से सहायक मात्र बतलाया है।

मेरा कहने का यह कभी भी तात्पर्य नहीं रहा कि व्यंजनों के बिना केवल स्वरों से ही काव्य-संगीत प्रभावोत्पादक एवं सम्प्रेषणीय बनाया जा सकता है। यह तो उतना ही भ्रामक होगा जितना कि 'वसन्त कुसुमाकर' के स्थान पर कोई पारद का या 'मेटेटोन' आदि पौष्टिक टॉनिक्स के स्थान पर कोई केवल एलकोहॉल का ही प्रयोग करके स्वास्थ्य-लाभ करने की बात सोचे। अतएव जिस प्रकार छन्द में बँधने से भावना में शक्ति तथा तीव्रता एवं गहराई तथा घनत्व के आयाम उभरते हैं, उसी प्रकार स्वर-संगीत की योजना से छन्द की प्रेषणीयता एवं संचरणशीलता की अभिवृद्धि होती है।

छायावादी अभिव्यंजना कल्पना-प्रधान इसलिए रही कि परम्परागत वस्तु-दृष्टि को अतिक्रम कर वह अपनी अमूर्त भाव-दृष्टि द्वारा नयी वस्तु का रूप-निर्माण करने की चेष्टा करती रही। वस्तु का या वस्तु-जगत् का विगत रूप भी एक कल्पना पर ही आधारित था, मायावाद के अनुसार भी प्रत्येक वस्तु-रूप केवल कल्पना भर, या काल की घटना भर है, जो हमसे पूर्व-परिचित या चिर-परिचित होने के कारण यथार्थ या तथ्य बन गया है। नये रूप नये मूल्य से हम अपरिचित होने के कारण उसे केवल कल्पना के रूप में ही ग्रहण करते हैं। छायावाद में नये मूल्य ने अपनी सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति सौन्दर्य-बोध में पायी, इसलिए, सौन्दर्य-बोध उस युग के काव्य की सबसे मौलिक तथा प्रमुख देन रही; उसमें इस सहज अभिव्यक्ति उसने भाव-बोध में पायी, इसलिए उसका भाव-बोध भी अपने में मर्मस्पर्श तथा भावुकता की सघनता का आवरण लिये हुए है; वस्तु के रूप में छायावादी अभिव्यक्ति इसलिए निर्बल रही कि नयी वस्तु के रूप को पहचानने के लिए उसे अपनी अन्तर्मुखी दृष्टि के लिए आधार-स्वरूप नयी ऐतिहासिक दृष्टि या यथार्थ की अनुभूति का सर्वथा अभाव था जो वह अपनी प्रगतिशील काव्य-विधा के अन्तर्गत ही धीरे-धीरे प्राप्त कर सका। संक्षेप में, हम छायावादी काव्यबोध के लिए कह सकते हैं कि उस युग का नवीन काव्य-चेतना जो कि एक नये जीवन-मूल्य की खोज में था वह अपने प्रथम उत्थान में अपनी अन्तर्मुखी अभिव्यंजना शैली के अन्तर्गत उदात्त कल्पना-वैभव, मौलिक सौन्दर्य-बोध, वस्तु की अनेक-रूपमय विधान, वस्तु-जगत् का भावोन्मुखी सूक्ष्मीकरण तथा भाव-जगत् का वस्तुन्मुखी स्थूलीकरण, अप्रस्तुत-विधान तथा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा शब्द-अर्थ की अन्तर्दृष्टि-सम्बन्धी अनुभूति तथा नवीन छन्दों की उन्मुक्त स्वर-लय-प्रकृति

आदि अनेक रमणीय रागात्मक-तत्त्वों को लेकर अभूतपूर्व काव्य-ऐश्वर्य के साथ अवतरित हुआ।

जैसा मैं पहले भी संकेत कर चुका हूँ छायावादी काव्य को कवि-चतुष्टय तक सीमित कर देना मुझे विचार की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता। अभिव्यंजना-शैली, भाव-सम्पद्, सौन्दर्यबोध तथा काव्य-वस्तु आदि की दृष्टि से उस युग के आगे-पीछे अन्य भी अनेक समृद्ध कवि हुए हैं, जो छायावाद के उद्भव तथा विकास में सहायक हुए हैं। उनमें से माखनलालजी, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, नवीन जी, सियाराम शरण जी, मोहनलाल महतो, उदयशंकर भट्ट, इलाचन्द्र जोशी, डा० रामकुमार वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। माखनलालजी की रचनाओं में राष्ट्रीय उद्बोधन के तेजस्वी गीत तथा सगुण-भक्ति-परक एवं आध्यात्मिक रचनाओं की प्रमुखता होने पर भी, अभिव्यक्ति, भाव-बोध तथा प्रकृति-स्पर्श की दृष्टि से वे छायावादी अभिव्यंजना-शैली से पृथक् नहीं की जा सकतीं। भाषा की दृष्टि से उन्हें अनगढ़ छायावादी कहा जा सकता है, किन्तु काव्य-वस्तु की दृष्टि से उनमें रहस्य-भावना, सूक्ष्म अभिव्यंजना, प्रकृति का जीवन्त स्पर्श, हृदय-का तारल्य, सौन्दर्य-मूल्य की स्वीकृति आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं कि उनके काव्य को छायावादी काव्य से उस तरह पृथक् नहीं रखा जा सकता जिस तरह हम श्रीधर पाठक, गुप्तजी या हरिऔधजी के काव्य को रख सकते हैं। सगुण का प्रेम होने पर भी उनका निराकार के प्रति आकर्षण है और कुछ आलोचक उन्हें छायावाद के प्रवर्तकों में मानते हैं तो यह उपर्युक्त धारणा को ही पुष्ट करता है। मुकुटधर पाण्डेयजी को शुक्लजी स्वयं ही छायावाद के सूत्रधारों में मान चुके हैं। उनके कुररी के स्वरों में तो विशेष रूप से छायावाद का आह्वान सुनायी पड़ता है। पण्डित राम त्रिपाठीजी का विशद प्रकृति-चित्रण तथा प्रणय-निवेदन और राष्ट्रप्रेम का द्वन्द्व भी छ वादी काव्य-वस्तु को ही प्रतिध्वनित करता है। उनके 'स्वप्न' तथा 'पथिक' नामक ख काव्यों की सौन्दर्य-भावना छायावादी तूली से ही अंकित हुई है। बालकृष्ण शर्मा नवीन 'क्वासि' तथा 'अपलक' दार्शनिक भावबोध की दृष्टि से छायावाद के ही अन्तर्गत आते उनके प्रणय-गीतों में भी छायावादी चेतना का स्पर्श मिलता है। भाषा में मार्दव निखार न होने पर भी, और वह द्विवेदी-युग की भाषा के निकट होने पर भी, 'उड़ च इस सान्ध्य नभ में मन विहग तज निज बसेरा, क्यों चला, किस दिशि चला, किसने उसे आज टेरा' जैसे अनेक काव्यचरण तथा प्रगीत अभिव्यक्ति की दृष्टि से छायावादी लाक्षणि सौन्दर्य से मण्डित हैं।

इन कवियों में भले ही राष्ट्रीय जागरण की चेतना प्रमुख रही हो—यद्यपि नव जी, रामनरेशजी, माखनलालजी—सभी मानव-भावनाओं और प्रेम के भी उतने सशक्त कवि हैं—उन भावनाओं में कहीं प्रेम का आधिपत्य है तो कहीं प्रकृति, कहीं भ तथा दर्शन का—किन्तु इस दृष्टि से छायावादी चतुष्टय के कवि भी राष्ट्रीय पुनर्जागर तथा दार्शनिक विचारों के उद्घोषक रहे हैं। यदि वे विशेष रूप से छायावादी कहलाये यह केवल इसलिए कि उनमें काव्य-वस्तु तथा अभिव्यंजना-शैली अपना पूर्ण छायावा उत्कर्ष प्राप्त कर सकी है। श्री सियारामशरणजी के 'पाथेय' तथा 'आर्द्रा' नामक काव्य

संग्रह, उदयशंकर भट्टजी के 'मानसी', 'विसर्जन', 'अमृत और विष' तथा 'यथार्थ और कल्पना'; इलाचन्द्र जोशीजी की 'विजनवती' आदि काव्यों में छायावादी अभिव्यंजना तथा भावना का मुखर स्वर मिलता है। सियारामजी की भाषा में भले ही यत्र-तत्र उनके अग्रज गुप्तजी का शील हो पर उनका भाव-बोध तथा काव्य-वस्तु निश्चय ही छायावादी युग की रही है। उनकी अभिव्यक्ति गुप्तजी से अधिक आधुनिक, संयमित, प्रौढ़ तथा उनकी कला अधिक सौन्दर्य-सशक्त रही है। डा० रामकुमार वर्मा के सम्बन्ध में तो कहना ही व्यर्थ है। उनके काव्य में सर्वाधिक कोमल छायावादी किशोर-भावना तथा रहस्य-कल्पना को अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कल्पनाशीलता, रहस्य-भावना का बोध, सौन्दर्य-दृष्टि, गीति-प्रियता आदि सभी गुण छायावादी काव्य को नवीन सृजन-उन्मेष का अतुल विभव प्रदान करते रहे हैं। उनकी प्रतिभा के तत्त्व—चाहे उन्होंने गीत लिखे हों या एकांकी—नि:सन्देह रूप से छायावादी मूल्य-बोध से अनुप्राणित रहे हैं। उनके प्रगीतों का भावना-संयम, अभिव्यक्ति का निखार तथा संगीतात्मकता छायावादी काव्य की विशेष उपलब्धियों में रही है। 'एकलव्य' को मैं युग-बोध की दृष्टि से छायावादी अभिव्यंजना का एक श्रेष्ठतम महाकाव्य मानता हूँ। वह 'कामायनी' की तरह ऊर्ध्वमुखी ही नहीं है, जो उस युग की सहज दृष्टि रही है, उसमें समदिक् सामाजिक संघर्ष तथा वर्ण-व्यवस्था आदि की पृष्ठभूमि का भी मार्मिक चित्रण मिलता है। उसमें छायावादी युग की विद्रोह-भावना को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है।

कुछ लोग छायावाद युग को दो भागों में विभक्त करते हैं। आप उसे छायावाद, उपछायावाद अथवा छायावाद का पूर्वार्द्ध अथवा उत्तरार्द्ध कह सकते हैं। जिस प्रकार सन् २८ से ३० तक छायावाद के पूर्वार्द्ध को पूर्वोक्त कवि-चतुष्टय अनुप्रेरित या अनुशासित करते रहे उसी प्रकार सन् '४२ के आसपास तक छायावाद के उत्तरार्द्ध को कुछ छायावादोत्तर कवि वाणी देते रहे, जिनमें बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर, अंचल, भगवती चरण वर्मा आदि प्रमुख रूप से सामने आते हैं। इस युग में छायावादी आदर्शभावना यथार्थोन्मुखी स्वरूप ग्रहण करने का प्रयत्न कर रही थी। जिस प्रकार छायावाद के उद्भव-काल में कुछ संकीर्ण-दृष्टि पूर्वाग्रहाकुण्ठित आलोचकों की परिमित दृष्टि के कारण इस नये काव्य-जागरण के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ फैलीं, उसी प्रकार इस उत्तरार्द्ध काल में भी हिन्दी-आलोचकों में व्यापक दृष्टि के अभाव के कारण छायावाद की इस यथार्थोन्मुखता के प्रति अनेक प्रकार की भ्रान्त तथा मिथ्या धारणाओं का प्रचार हुआ। छायावादी चेतना के अवरोहण तथा विस्तार को आलोचकों ने छायावाद का पतन या विनाश कह-कर अपनी सीमित युगान्ध दृष्टि का परिचय दिया। वास्तव में आधुनिक-युग संक्रान्ति का युग होने के कारण इसमें प्रत्येक दशक में एक ही युग के भीतर अनेक नये युग जन्म ले रहे-से प्रतीत होते हैं, जो मूल-युग की केन्द्रीय धारणा को अपने सत्त्व-अर्जित परिवर्तनों तथा नयी उपलब्धियों से और भी समृद्ध तथा सशक्त बनाने का प्रयत्न कर रहे थे।

जिस युग को बिखराव का युग कहा जाता है वह वास्तव में हिन्दी-काव्यधारा में एक नवीन संयोजन का युग था। जिस प्रकार विघटन नये विकास की पीठिका बनता

नरेन्द्र, दिनकर आदि कवि उस यथार्थ का ऋण-बोध युग की विघटित हो रही पृष्ठभूमि के सम्पर्क तथा आत्म-संघर्ष से प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे थे। बच्चन केवल हाड़-मांस के व्यक्ति के भीतर जन्म ले रहे जीवन के जीव-यथार्थ को ही मुख्यतः वाणी दे सका, उसका व्यक्तिगत मांसल भावना-संघर्ष सामाजिक यथार्थ के स्पर्श से अछूता ही रहा। नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों ने सामाजिक यथार्थ का स्पर्श प्रारम्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से न पाकर केवल व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष द्वारा ही प्राप्त किया। इसलिए जिन वैयक्तिक-सामाजिक भावनाओं के सम्मिश्रण को ये अपने काव्य द्वारा अभिव्यक्ति दे रहे थे वह अधिकतर भावुकता, तर्क तथा वैयक्तिक नैराश्य-कुण्ठा, प्रेमजनित-असफलता आदि के ही कारण था और इस अनुपात में उनकी शैली भी यथार्थोन्मुखी, ठोस तथा जीवन-मांसल बन सकी, किन्तु उसमें एक स्तर सामाजिक यथार्थ का भी अवश्य वर्तमान रहा। भले ही उस यथार्थ का संवेदन भाववाचक न होकर अधिकतर अभाववाचक ही रहा हो।

ऐतिहासिक यथार्थ एवं ऐतिहासिक वस्तुन्मुखी अनुभूति की गतिशील पगध्वनि हिन्दी-काव्य में सम्भवतः सर्वप्रथम मेरी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में सुनाई पड़ी, जिसे आलोचकों ने मार्क्सवाद का चर्वण कह कर महत्त्व-योग्य नहीं समझा। युगवाणी का बौद्धिक दृष्टिकोण 'ग्राम्या' में भावनात्मक मांसल-संवेदन से भी मण्डित हो सका। साथ ही अनेक प्रगतिशील कवियों ने अपनी वाणी द्वारा सामूहिक यथार्थ की पीठिका के पुनर्निर्माण की आवश्यकता का आग्रह सशक्त शब्दों में प्रकट किया। अनेक युग-प्रबुद्ध तथा तरुण कण्ठों से इस नवीन यथार्थवादी सचरण का उद्बोध सुनायी पड़ने लगा, जिनमें छायावादी चतुष्टय में निरालाजी के अतिरिक्त, जिनकी ऐतिहासिक दृष्टि-जनित प्रगतिशीलता के लिए पहले कहा जा चुका है, दिनकर, भगवती बाबू आदि में उसके अस्पष्ट स्वर तथा 'मिट्टी और फूल' के नरेन्द्र, 'किरणवेला' और 'करील' के अंचल, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि के बाद शमशेर, केदार, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद, त्रिलोचन आदि अनेक नवयुवकों में स्पष्ट विद्रोह तथा क्रान्ति का ओजस्वी नाद मुखरित हो उठा। ऐतिहासिक दर्शन की दृष्टि से इन कवियों का बोध उतना सुलझा, स्पष्ट तथा व्यापक न रहा हो, पर पूँजीवादी साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध तथा जन-जीवन की विषमताओं, आर्थिक कठिनाइयों तथा वर्ग-संघर्ष के पक्ष में उन्होंने अनेक रूप में अपनी सशक्त सहानुभूति तथा संवेदना को सफल अभिव्यक्ति दी। किन्तु इन सभी कवियों की शैली छायावादी अभिव्यंजना से प्रभावित रही है, भले ही विषय के अनुरूप प्रतीक, बिम्बविधान तथा भाषा-संगीत आदि बदल कर अधिक यथार्थोन्मुखी हो गए हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग के मानस में यदि छायावाद के प्रथम उत्थान में मनोज्ञित नये मूल्य के सूर्य का स्वर्णाभ प्रकाश छाया हुआ था तो नीचे की भूमि पर वैज्ञानिक सम्भावनाओं से अनुप्राणित जन-जीवन-संघर्ष का उत्पीड़ित, उद्वेलित, दिगन्तव्यापी, कराहता हुआ समुद्र फैला था, जो राजनीतिक दृष्टि से भले ही पूँजीवादी अवरोध को मिटाने के लिए सचेष्ट हो और आर्थिक-दृष्टि से वैज्ञानिक उत्पादन और वितरण की शक्तियों में एक नवीन वैषम्य-शून्य सन्तुलन स्थापित करने की अदम्य आकांक्षा से संघर्ष-रत हो, पर सांस्कृतिक

दृष्टि से वह एक नवीन भू-संगम-कामी मनुष्यत्व की धारणा एवं मूल्य को जन्म देने के लिए भी उद्बुद्ध तथा चिन्तन-रत था, और जैसा कि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखा है इस ऐतिहासिक-यथार्थबोध के अभाव में छायावादी आदर्शोन्मुख ऊर्ध्वगामी संचरण केवल व्यक्तिगत अलंकृत संगीत मात्र बन गया था।

नये मूल्य की खोज की दृष्टि से मैं प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता को भी केवल छायावाद अथवा उस युग के नये काव्य-संचरण की ही रूपांतरित विधाएँ मानता हूँ, क्योंकि इनमें अभिव्यक्ति-जनित असमानता तो पायी ही जाती है, इन सभी वादों में एक ऐसा केन्द्रीय अन्तःसंयोजन एवं संगति भी मिलती है जो इन्हें एक ही मानव-मूल्य के विभिन्न आयामों के रूप में नवीन अर्थवत्ता तथा सार्थकता प्रदान कर, उस एक ही मूल्य के विविध पक्षों को हमारे सामने अभिन्न एकता तथा परिपूर्णता में उपस्थित करते हैं।

जिस प्रकार छायावाद के प्रथम उत्थान में हमें जागरण-युग की भावना तथा विचार-सम्बन्धी अनेक मध्ययुगीन रहस्यवादी प्रभाव काव्यवस्तु तथा अभिव्यंजना को धूमिल तथा अस्पष्ट बनाते हुए मिलते हैं, उसी प्रकार प्रगतिवाद के भीतर भी व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में अनेक व्यक्तिगत कुण्ठाएँ तथा पूर्व-ग्रह यथार्थ-बोध को आच्छादित करते हुए पाए जाते हैं। यदि छायावाद का आदर्शोन्मुखी संचरण यथार्थबोध के अभाव में अलंकृत संगीत बन गया था तो प्रगतिवादी संचरण जीवन-मूल्य के प्रति ऊर्ध्व-दृष्टि के अभाव में सतही यथार्थ के दलदल में फँस कर राजनीतिक नारेबाजी तथा दलबन्दी में डूब गया और प्रगतिशील कवियों में वही अन्त तक जीवित रह सके, जिनके भीतर अपने व्यक्तित्व का बल था और थी नवीन जीवन-यथार्थ के प्रति गम्भीर आस्था। इनको भी प्रगतिशील आलोचकों ने अपनी बाह्यांध दृष्टि तथा परस्पर के मतभेद के कारण एक के बाद एक चुन-चुन कर प्रगतिवाद की परिधि से बाहर निकाल दिया। वह निश्चय ही प्रगतिवाद के लिए महत् संकट का क्षण था। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि अपने स्वस्थ विकासकामी रूप में प्रगतिवाद, दोनों अभिव्यक्ति तथा काव्य-वस्तु एवं मूल्य की दृष्टि से, छायावाद से ही समन्वित तथा संयोजित रहा—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि नये काव्य-संचरण के प्रथम उत्थान के लिए मैं अनिच्छापूर्वक छायावाद शब्द का उपयोग करने को बाध्य हूँ—अपने ह्रासोन्मुखी रूप में प्रगतिवाद जीवन के व्यापक आदर्श से वियुक्त होकर जीवित यथार्थ के बदले जड़ यथार्थ का प्रतीक बन कर मिट्टी में मिल गया। आदर्श को सदैव यथार्थ की आवश्यकता होती है और यथार्थ को आदर्श की। यथार्थ से विच्छिन्न आदर्श यदि दिक्पंगु है तो आदर्श से विच्छिन्न यथार्थ युगान्ध है। इस प्रकार जिस नये युग-बोध अथवा युग-मूल्य ने अपनी ऊर्ध्व दृष्टि का अर्थ खोजने के लिए छायावाद द्वारा नये मानव-सौन्दर्य तथा नये मनुष्यत्व के आदर्श को जन्म दिया उसी ने उस आदर्श को धरती के जीवन में स्थापित करने के लिए प्रगतिवाद के रूप में ऐतिहासिक यथार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा की, और दोनों संचरण अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से पीड़ित रहे। इसलिए मुझे इस युग के सन्दर्भ में छायावाद तथा प्रगतिवाद एक दूसरे के बिना अधूरे तथा अर्थहीन लगते हैं।

उत्तर छायावादियों में दिनकर, नरेन्द्र, बच्चन आदि ऐसे कवि हुए जिन्होंने छाया-

वादी सौन्दर्य-चेतना को वैचित्र्य तथा बहुमुखी व्यक्तित्व प्रदान किया। बच्चन, मुख्यतः व्यक्तिनिष्ठता तथा एकान्तिकता का कवि है, उसके भाव-मांसल गीतों के अतिरिक्त उसका ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक मुक्त-छन्द का बौद्धिक काव्य भी मूलतः व्यक्तिवादी ही है। यद्यपि कहीं-कहीं वह सामाजिक चेतना के अन्तर्गत जीवन के वैषम्य को भी चिन्तन-सशक्त वाणी देने के प्रयत्न करता है। उसकी भावना जिस प्रकार वैयक्तिक है उसकी बौद्धिकता भी उसी प्रकार उसके व्यक्तित्व की अहंता से आक्रान्त है। उसकी काव्य-शैली में भावानुरूप हिन्दी-उर्दू का मिश्रण तथा परम्परागत भाषा के मुहावरों का निखार होने पर भी उसमें छायावादी सौन्दर्य-बोध का पुट मिला हुआ है—'मिलन-यामिनी' तथा 'प्रणय-पत्रिका' की कला-दृष्टि इसका प्रमाण है—यद्यपि उसकी भावना का स्तर उर्दू कविता की तरह बहिर्मुखी भावावेग से स्पृष्ट है। छायावाद अपने व्यापक सर्वात्मवादी या विश्वव्यापी दृष्टिकोण में जिस प्रकृति के जीव-व्यक्ति को भूल गया था बच्चन के काव्य ने उसके सुख-दुख की प्राणिक संवेदना को वाणी देकर छायावादी द्वारा उपेक्षित हृदय के कोने पर उस व्यक्तिगत, स्वच्छन्द भाव मुक्ति की प्रतिमा को स्थापित किया। संक्रान्ति-युग से भाराक्रान्त होकर बच्चन का भी गीतप्रधान भावना-केन्द्र अब अस्त-व्यस्त हो चुका है, उसकी बौद्धिक संवेदना उसकी भावना से अधिक व्यापक तथा सामाजिक है। उसके मुक्त, विचार-प्रधान काव्य में भाषा की तद्भव-संगीतात्मकता उसकी शैली की विशेषता बन गयी है। 'त्रिभिफम बरवम हनुमान' में उसका व्यक्तित्व और भी प्रखर होकर सामने आता है।

दिनकर सामाजिक चेतना का कवि रहा है। उसकी ओजस्वी हुंकार में प्रभावोत्पादकता तथा गहराई से अधिक उसके उन्मुक्त व्यक्तित्व की ही छाप मिलती है। पर यह सब होने पर भी वह शक्ति का कवि है। निरालाजी में बौद्धिक अथवा दार्शनिक आस्था की शक्ति थी सो दिनकर में भावना के आवेश की शक्ति मिलती है। छायावादी लाक्षणिक शैली की भंगिमा से मुक्त होने के सचेतन प्रयास में तथा द्विवेदी-युग की स्पष्टता एवं प्रसाद गुण के मोह में उसकी शब्द-योजना कहीं-कहीं सपाट तथा कला-संयम-रहित हो जाती है, जिसका उदाहरण, उसके प्रगीतों से अधिक, उसके प्रबन्ध-काव्यों और विशेष कर 'उर्वशी' में मिलता है, जिसकी भाव-वस्तु अत्यन्त काव्यमयी होने पर भी अभिव्यक्ति उतनी विशिष्ट नहीं हो सकी है। नये कवियों को 'नील कुसुम' की स्नेहांजलि भेंट करने पर भी उसकी अभिव्यंजना छायावादी सौन्दर्य-चेतना के श्वेत-कमल पर ही आसीन है। युग-चिन्तक तथा रसचेता होने पर भी वह भावावेश के क्षणों में कब विगत युग के मूल्यों का परशु उठा कर काव्य के मंच से ललकारने लगेगा—यह नहीं कहा जा सकता। दिनकर उत्तर छायावादियों में प्रथम श्रेणी के कवि हैं। द्विवेदी-युग की अभिधात्मक शैली के प्रति आकर्षण होने पर भी छायावादी सृजन-चेतना को उन्होंने अमूल्य तथा पुष्कल भेंट प्रदान की है। पूर्ण क्षणों की वाणी भी अभिधात्मक होती है और घिसी-पिटी भाषा भी, पर घिसी-पिटी अभिधा सदैव ही काव्य नहीं होती। अन्तरप्रादेशिक दृष्टि से तत्समप्रधान भाषा की ही उपयोगिता है प्रादेशिक हिन्दी का तद्भवबहुल होना एवं बोलियों का रंग लेकर उभरना स्वाभाविक है। नयी कविता में, व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण, वैयक्तिक, आंचलिक-

तत्त्व-प्रधान भाषा का प्रयोग अधिक मिलता है। यद्यपि नव-लेखन का गद्य, विशेषतः समीक्षात्मक गद्य भी छायावादी कवि की तरह तत्समप्रधान ही होता है।

नरेन्द्र इस छायावादोत्तर बृहत्त्रयी के तीसरे सशक्त कवि रहे हैं, जिनकी काव्य-चेतना छायावाद तथा प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी रही है, और वे दोनों युग-सचरणों के उपकरणों को अपने काव्य मे सँजो सके हैं। जिस मूल्य की खोज ने छायावादी कवि को प्रेरित किया उसी से नरेन्द्र की सृजन-चेतना ने भी प्रेरणा प्राप्त की। वैयक्तिक और सामाजिक तत्त्वों के युगीन-वैषम्यों मे वह एक उच्च यथार्थोन्मुख-आदर्शवादी धरातल पर सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। 'प्रवासी के गीत' से 'प्यासा-निर्झर' तक उन्होंने काव्य-सम्बोधि तथा अभिव्यक्ति के अनेक सोपान पार किये है। नरेन्द्र मुख्यतः प्रगीत-प्रतिभा के कवि है, उनके प्रगीतों मे जो अग्रेजी लिरिक की सी एक परिपूर्णता मिलती है वह हिन्दी के कम ही कवियों मे दिखायी देती है। आदर्शोन्मुखी अभीप्सा के कवि होने पर भी उनके काव्य में सामाजिक-यथार्थ के सवेदन प्रचुर मात्रा मे सग्रथित पाए जाते हैं। नरेन्द्र के प्रणय-गीतों मे पछाँही बोली का सुघर माधुर्य है तो उनके चिन्तन-प्रधान प्रगीतों मे तत्सम-सगीतात्मकता का परिष्कार है। नरेन्द्र के व्यक्तित्व मे एक तीव्र विद्रोह का स्वर भी है, जिसने उसकी रचनाओं मे भी सबल अभिव्यक्ति पायी है। उसके नैतिक दृष्टि-बोध के कारण मैं उसे परिहास में आधुनिक युग का रहीम कहा करता हूँ।

यदि हम उपर्युक्त बृहत्त्रयी को चतुष्टय मे बदलना चाहें तो हम इसमें अचलजी का नाम भी जोड़ सकते हैं। नरेन्द्र की रूमानियत से सौन्दर्य तथा सुख-दुःख के सवेदन मिलते हैं तो अचल मे लालसा की तड़पन तथा आग। प्रणयाकुलता, मांसल-आवेग तथा शैली की स्वाभाविकता एव पुष्कलता की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का बायरन कहा जा सकता है, यद्यपि बायरन की शक्ति तथा व्यापकता के पक्ष का उनमें एकान्त अभाव रहा है। उन्होंने जीवन-यथार्थ को प्राणोच्छल रागात्मक सवेदन द्वारा ग्रहण किया है। प्रेम मे, ...र्ष नहीं, लोक-क्रान्ति तथा क्रान्ति से आध्यात्मिक समन्वयात्मक दृष्टि में विराग का ...क सामान्य क्रम मिलते हुए भी उनकी शैली तथा शब्द-चयन मे एकरसता दृष्टिगोचर ...ती है। फिर भी अचलजी के पास कवि-दृष्टि रही है, वे कल्पना के राजकुमार हैं, ...और उन्होंने सौन्दर्य-चेतना का, लालसा-प्रतिमा नारी के रूप मे, काव्य-शृगार किया है। ...छायावाद के प्रेम के मूल्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया, जिसके कारण उसे सश...री प्रेम या अशरीरी अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। जिन कवियों ने, बच्चनजी तथा ...चन जी की तरह, उसे मासल अभिव्यक्ति दी, वे आनेवाले सामाजिक-यथार्थ की भूमि ...कट कर, एक छोटे से हाड़-मास के यथार्थ के आँगन मे खोड़ा कर, काव्य-वस्तु की दृष्टि ...विन रीतिकालीन यथार्थ को ही नवीन कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके हैं।

प्रगतिवादी कवियों मे सामाजिक चेतना के आयाम अधिक ठोस तथा रस अधिक ...र होने पर भी अधिकतर काव्य-तत्त्वों की परिक्षीणता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। ...वहाँ युग-जीवन के वैषम्य को वाणी देने मे प्रगतिवाद मात्र प्रचार-काव्य बन गया। ...तु नये मूल्य के इस सचरण मे भी कुछ सशक्त कवि हुए जिन्होंने छायावादी चेतना ...की मिट्टी के भीतर मे उतारकर उसे यथार्थ के आयाम दिये। सामाजिक मूल्य छाया-

वाद के भीतर भी अन्तर्हित था, पर सांस्कृतिक मूल्य के रूप में। अपने नये प्रगतिशील संचरण में उसने उस सामाजिक मूल्य को, जन-जीवन के भीतर प्रविष्ट कर, उसे अन्तरिक्षों के सौन्दर्य के स्थान पर धरती की सुन्दरता की वास्तविकता प्रदान की। प्रगतिशील कवियों में 'सुमन' में जनवादी आवेग तथा प्रभावोत्पादकता होने पर भी शाब्दिकता अधिक मिलती है। मैं उसे शब्दाडम्बर नहीं कहूँगा, वह प्रायः मुक्त-छन्द में प्रवचन देने लगते हैं। बच्चन का कवि-सम्मेलनी-राग भावनात्मक तथा संगीतात्मक रहा तो 'सुमन जी' का प्रचारात्मक तथा आवेशात्मक। 'सुमन' जी में सामाजिक यथार्थ के भीतर गहरी पैठ न होने पर भी एक उन्मुक्त कला-भंगिमा मिलती है, जिससे उनकी वाणी मर्मस्पर्शी बन जाती है।

मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर तथा नागार्जुन इस युग के सबसे प्रबुद्ध तथा सफल कवि हैं। मुक्तिबोध इन सबमें युग-प्रबुद्ध रहे हैं, उनके पास ऊर्ध्व चिन्तन की दृष्टि भी थी और वह अनेक प्रगतिवादियों की तरह समतल साधारणता के ही मरुस्थल में नहीं भटक गये। उनकी आस्था सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यमूलक थी, जिससे उनकी यथार्थवादी दृष्टि में गहराई तथा ऊँचाई आ गयी है। मुक्तिबोध यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आधारित अनेक सशक्त एवं जीवन्त प्रतीकों तथा बिम्बों द्वारा अपने भावनात्मक जीवन-आवेश को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने में सफल हुए हैं। युग-वैषम्यों के आघात से उद्वेलित तथा जर्जर, अपनी भावना की तिक्त-कठोर प्रतिक्रिया को वे काव्य-वस्तु का रूप देकर, उसे प्रभावोत्पादक बना सके, जीवन-मूल्य के प्रति जो उनके पास एक सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि थी यह उसी के कारण सम्भव हुआ। वह अपराजेय क्रान्त-द्रष्टा कवि तथा विचारक थे। निरालाजी की क्रान्त-दृष्टि आत्म-शक्ति से अनुप्राणित थी, और मुक्तिबोध की नवीन-यथार्थ तथा ऐतिहासिक यथार्थ के बोध से। एक में केवल झंझा का दुर्गम वेग था, दूसरे में निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने की विवेकसम्मत क्षमता भी। फिर भी विवेक के सन्तुलन से अधिक उसमें भावना का ही आवेग था। जहाँ ऊर्ध्व और समतल मूल्य, आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्य का संघर्ष उनके भीतर उपस्थित होता था उनका निर्णय सदैव समतल तथा सामाजिक मूल्य के पक्ष में होता था, यह नहीं कि वह उन दोनों में कोई अन्त संगति भी देख पाते। मूल्य का ऊर्ध्व पक्ष उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता था, वह कहीं उनके मस्तिष्क के पीछे रहता था। और यह उनके लिए ठीक भी था, क्योंकि वह सुन्दर, सामूहिक-यथार्थ से अनुप्राणित थे, और बहुत सम्भव है विकसित जिस ऊर्ध्व-मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए पहले सामाजिक आधार को लोक-क्रान्ति द्वारा परिवर्तित होना पड़े, यद्यपि आज के युग में, जिस प्रकार विश्व-शक्तियों का विभाजन हुआ है, आध्यात्मिक तथा भौतिक मूल्य के प्रति हमारी जीवन-दृष्टि तथा मानस-धारणा का सुसम्बद्ध ही बदलना श्रेयस्कर है। यह जो भी हो, मुक्तिबोध में वैचारिक-शक्ति, विश्लेषण-बुद्धि तथा दार्शनिक-चैतन्य प्राय: समस्त प्रगतिशील कवियों में अधिक विकसित रहे हैं। सशक्त होने के कारण उनका काव्य मुख्यतः उच्च कोटि के आवेश का काव्य है, उसमें प्रौढ़ अनुभव की कमी है, पर क्रान्तदर्शी काव्य की मूल शक्ति जीवन के प्रति संघर्ष-भावना ही में निहित रहती है। गिरिजाकुमार का काव्य-बोध इन कवियों में सबसे अधिक सूक्ष्म

तथा विकसित रहा है। वह मुक्तिबोध की तरह लम्बी कूँचियाँ ही फेरते नहीं है, रूप को निखार कर बारीक, तथा रंग को हलकी-गहरी छायाओं में उपस्थित करने में भी कलादक्ष हैं। माथुर केवल दृष्टि से संवेदना से वह व्यक्तिवादी ही हैं। छायावादी-अभिव्यंजना को उन संगीत के तारल्य में ढालकर नयी कविता के पास पहुँचाने का प्रयत्न कि कुमार जो कला-भावना के कवि हैं, कीट्स की-सी सौन्दर्य-दृष्टि तथा लिये हुए। उनकी काव्य-वस्तु में ओजस्वी आह्वान या कल्पना की मर्मस्पर्शी भाव-संगीत तथा लय है। रूप-बोध में शक्ति न होकर मृदु यता है। माथुर में प्रगतिवादियों में सर्वाधिक कला-वैचित्र्य मिलता सूक्ष्म चेतना को उन्होंने अपने रंग-बोध से—जो उनकी भावुकता के भावमधुर-चित्रों में उपस्थित किया है। इन सब कवियों में वे छायावादी निकट हैं। नागार्जुन सहज-वृत्ति के कवि हैं। बौद्धिक दृष्टि से उन्होंने प्र धारा को अपना लिया हो, किन्तु अपने भावबोध में तथा कला-शिल्प में के साथ ही प्रयोगशील कवि रहे हैं। उनकी शैली में लोक-बोली के स्व विक माधुर्य मिलता है; गिरिजाकुमार आदि की तरह कला-सौष्ठव के लोक-भाषा के शब्दों का प्रयोग नहीं करते। वह उनके भीतर से स्वतः गिरिजाकुमार की तरह वह नागरिक संवेदना के कवि न होकर लोक-जी के गायक हैं। इन कवियों ने—जो तार-सप्तक में भी संकलित हैं—छाय उत्थान की मानव तथा भाववादी प्रेरणा को सामाजिक यथार्थ का परि एक नवीन आयाम तथा जीवन-बोध से समृद्ध किया।

छायावाद जिस जीवन-सौन्दर्य के ताजमहल को नये आदर्श के रूप करने का प्रयत्न कर रहा था, उसे जीवन में रूपायित करने के लिए अप संचरण में उसने जैसे नये यथार्थ के संगमर्मर की खोज की कि वह वास्त तल पर उतर कर, नये जीवन-सत्य का रूप ग्रहण कर सके, और उसमें मि गन्ध मिल जाय। यदि हम केन्द्रीय-मूल्य की संगति से—जिसका प्रथम स वाद था—प्रगतिवाद को पृथक् कर दें तो वह अपनी ऊर्ध्व-रीढ़ को बा भूल कर मिट्टी चाटने वाले पहलवान की तरह धराशायी ही रहेगा।